इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ

एम.टी.टी.-011

अनुवाद : इतिहास एवं परम्परा

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
पूर्व अध्यक्ष, भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

प्रो. गंगा प्रसाद विमल
पूर्व अध्यक्ष, भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

प्रो. सी.पी. शिवदासन
पूर्व प्रोफेसर
रीजनल इंस्टीट्यूट ऑफ इंगलिश, बंगलौर

प्रो. हरीश नारंग
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

प्रो. चमन लाल
पूर्व अध्यक्ष, भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

प्रो. हरिमोहन शर्मा
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. रामबक्ष
अध्यक्ष, भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

डॉ. पूरन चंद टंडन
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

श्री कुमार विक्रम
नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया

प्रो. जवरीमल पारख
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

प्रो. रीतारानी पालीवाल
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

संकाय सदस्य, अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
डॉ. देवशंकर नवीन
डॉ. जगदीश शर्मा
डॉ. मनजीत बरुआ
डॉ. हरीश कुमार सेठी
डॉ. ज्योति चावला

कार्यक्रम समन्वयक	पाठ्यक्रम समन्वयक	पाठ्यक्रम संपादक
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय डॉ. देवशंकर नवीन अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, इग्नू	डॉ. देवशंकर नवीन एसोसिएट प्रोफेसर अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, इग्नू	प्रो. मैनेजर पाण्डेय पूर्व अध्यक्ष, भारतीय भाषा केन्द्र जे.एन.यू., नई दिल्ली

पाठ लेखन

डॉ. अनामिका, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली वि.वि.	इकाई 01
डॉ. देवशंकर नवीन, अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, इग्नू	इकाई 02
प्रो. जी. चौधरी, विदेशी भाषा विद्यापीठ, इग्नू (अनुवाद : राजेश कुमार झा)	इकाई 03
डॉ. प्रियसेन सिंह, बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता, गौतम बुद्ध वि.वि., नोएडा	इकाई 04
प्रो. जी. चौधरी, विदेशी भाषा विद्यापीठ, इग्नू (अनुवाद : राजेश कुमार झा)	इकाई 05
प्रो. संघसेन सिंह, पूर्व अध्यक्ष, बौद्ध अध्ययन केन्द्र, दिल्ली वि.वि.	इकाई 06
डॉ. मोहम्मद सलीम, विदेशी भाषा विद्यापीठ, इग्नू	इकाई 07
श्री सरवरुल हक, विदेशी भाषा विदेशी भाषा विद्यापीठ, इग्नू	इकाई 08, 10
प्रो. असलम इसलाही, डीन, जे.एन.यू. (अनुवाद : शबनम शाहीन)	इकाई 09
प्रो. हेम चन्द्र पाण्डे, रूसी भारतीय भाषा केन्द्र, जे.एन.यू.	इकाई 11
प्रो. शैलेन्द्र कुमार सिंह, एन.ई.एच.यू, शिलांग	इकाई 12
प्रो. भरत सिंह, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा	इकाई 13
प्रो. एन. कमला, फ्रेंच भाषा केन्द्र, जे.एन.यू. (अनुवाद : सुशान्त कुमार मिश्र)	इकाई 14

सामग्री उत्पादन

श्री जितेन्द्र सेठी सहायक कुलसचिव, एमपीडीडी, इग्नू	श्री सुधीर कुमार अनुभाग अधिकारी, एमपीडीडी, इग्नू

मार्च, 2014

© *इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2014*

ISBN: 978-81-266-6650-8

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य के किसी भी अंश को किसी भी रूप में कापीराइट धारक से लिखित में अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ या किसी अन्य माध्यम से पुनरुत्पादित न किया जाए।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय पाठ्यक्रमों पर और कोई अन्य सूचना मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068 स्थित विश्वविद्यालय के कार्यालय या इग्नू की सरकारी वेबसाइट www.ignou.ac.in से प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली की ओर से प्रो. अवधेश कुमार सिंह, निदेशक, अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ एवं कुलसचिव, एमपीपीडी, इग्नू, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

लेजर टाईपिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी-166, सैक्टर-ए, भगवती विहार, उत्तम नगर, (नजदीक सेक्टर 2, द्वारका), नई दिल्ली-110059

मुद्रक :

विषय सूची

खण्ड 1 अनुवाद की एशियाई परम्परा : अर्थ एवं क्षेत्र विस्तार

इकाई 1 अनुवाद की एशियाई परम्परा : एक परिचय 9

इकाई 2 अनुवाद की भारतीय परम्परा 22

इकाई 3 अनुवाद की चीनी परम्परा 40

इकाई 4 अनुवाद की बौद्ध परम्परा 55

खण्ड 2 बौद्ध ग्रन्थों के चीनी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद

इकाई 5 बौद्ध ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद 71

इकाई 6 बौद्ध ग्रन्थों के पूर्वीय भाषाओं में अनुवाद 87

खण्ड 3 भारतीय-अरबी और भारतीय-फ़ारसी अनुवाद

इकाई 7 भारतीय ग्रन्थों के अरबी अनुवाद 103

इकाई 8 भारतीय ग्रन्थों के फ़ारसी अनुवाद 113

इकाई 9 अरबी ग्रन्थों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद 120

इकाई 10 फ़ारसी ग्रन्थों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद 127

खण्ड 4 अनुवाद की पश्चिमी परम्परा

इकाई 11 पश्चिम में अनुवाद की प्राचीन परम्परा 137

इकाई 12 मध्यकालीन पश्चिम में अनुवाद की परम्परा 147

इकाई 13 आधुनिक यूरोपीय अनुवाद परम्परा 165

इकाई 14 अनुवाद की अमेरिकी एवं कनाडाई परम्पराएँ 173

पाठ्यक्रम परिचय

अनुवाद : इतिहास एवं परम्परा शीर्षक यह पाठ्यक्रम अनुवाद अध्ययन में एम.ए. कार्यक्रम का दूसरा पाठ्यक्रम है। इस पाठ्यक्रम में अनुवाद के इतिहास एवं उसकी विविध परम्पराओं की जानकारी हासिल की जाएगी। विदित है कि भाषाई भिन्नता के मद्देनजर अनुवाद वैश्विक स्तर पर सम्वाद स्थापित करने हेतु; भाषा-साहित्य-कला-संस्कृति, ज्ञान, धर्म, मत, विचार, व्यापार, आचार-व्यवहार आदि के प्रचार प्रसार हेतु मानव-जीवन का आधार है। इतिहास एवं परम्परा की तलाश में अनुवाद के आदि स्रोत तक जाना जितना कठिन है, उतना ही रोचक। इस पत्र में अनुवाद के इतिहास एवं परम्परा को जानने के लिए मुख्यतया चार परम्पराओं पर विचार किया गया है एशियाई परम्परा, बौद्ध परम्परा, अरबी-फ़ारसी परम्परा एवं पश्चिमी परम्परा। अनुवाद की इन सभी परम्पराओं पर विचार करते हुए यहाँ अनुवाद की एशियाई, भारतीय, चीनी परम्परा के साथ-साथ अनुवाद की बौद्ध परम्परा, बौद्ध ग्रन्थों के चीनी एवं अन्य पूर्वीय भाषाओं में अनुवाद, भारतीय ग्रन्थों के अरबी एवं फ़ारसी अनुवाद तथा अरबी एवं फ़ारसी ग्रन्थों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद की परम्परा पर गम्भीरता से विचार किया गया है। पश्चिमी देशों के अनुवाद की सुदीर्घ परम्परा पर विचार करने हेतु उसे प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक खण्डों में बाँटकर विचार किया गया है; इसके साथ ही अनुवाद की यूरोपीय एवं कनाडाई परम्परा पर अलग से चर्चा की गई है। आशा की जाती है कि यह पुस्तक अनुवाद अध्ययन के अध्येताओं को अनुवाद के इतिहास एवं परम्पराओं की जानकारी देकर उन्हें इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य हेतु प्रेरित करेगी।

खण्ड

1

अनुवाद की एशियाई परम्परा : अर्थ एवं क्षेत्र विस्तार

इकाई 1
अनुवाद की एशियाई परम्परा : एक परिचय 9

इकाई 2
अनुवाद की भारतीय परम्परा 22

इकाई 3
अनुवाद की चीनी परम्परा 40

इकाई 4
अनुवाद की बौद्ध परम्परा 55

खण्ड-1 का परिचय

आँकड़ों के अनुसार एशिया जैसे सैंतालीस देशों के विशाल महाद्वीप में लगभग 2000 भाषाएँ बोली जाती हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न भाषाई परिवारों में बाँटा गया है। इनमें से कुछ तो सिर्फ एशिया महाद्वीप में पाए जाते हैं और अन्य महाद्वीपों को विश्व से जोड़ते हैं। सिर्फ एशियाई महाद्वीप में पाए जाने वाले भाषा-परिवार हैं : आलताइक, द्रविड़, सिनो-तिब्बती, औस्ट्रो-एशियाई, अफ्रीकी-एशियाई, भारतीय-यूरोपीय आदि। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से एशिया महाद्वीप में अत्यधिक विविधताएँ हैं। कुछ भाषाएँ तो ऐसी भी हैं जिनके बोलने वाले कुछ ही बचे हैं। ध्यान देने की बात है कि एशिया की तीन भाषाएँ चीनी, हिन्दी और बांग्ला विश्व की पाँच सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषाओं में से हैं।

एशिया की आधिकारिक भाषाएँ अधिकतर देशों में स्थानिक हैं। इस वजह से बहुत-सी स्थानीय भाषाएँ दूसरी स्थानीय भाषाओं के दबाव से खतरे में हैं। खतरा तो औपनिवेशिक भाषाओं से भी है, पर दूसरे महाद्वीपों की तरह यह खतरा यहाँ अपेक्षाकृत कम है। इसके बावजूद ऐसे देश भी हैं जहाँ अंग्रेजी या फ्रांसीसी जैसी भाषाएँ आधिकारिक हैं। भारत, पाकिस्तान, सिंगापुर जैसे देशों में अंग्रेजी सह-आधिकारिक है, जबकि कम्बोडिया और वियतनाम जैसे देशों में फ्रांसीसी मान्यता-प्राप्त भाषा है।

एशियाई देश धार्मिक ग्रन्थों, प्रवचनों, श्रुतियों, अनुश्रुतियों, भाष्यों, अनुभाष्यों, वादों-विवादों-सम्वादों का धाम रहे हैं। एशियाई देशों में 'लोक' और 'शास्त्र'--दोनों के भाष्यपरक अनुवादों की सदियों पुरानी परम्परा रही है। हिन्दू आर्ष ग्रन्थ, बौद्ध और जैन आर्ष ग्रन्थ, और गुरुग्रन्थ साहिब तथा कुरान के भाष्यमुखी अनुवाद जैसी महत् इकाइयाँ इसके प्रमाण हैं। भारत, जापान-जावा-सुमात्रा-चीन और श्रीलंका में भावबोधक और व्याख्यामूलक अनुवाद की परम्परा रही है। मध्य एशिया के देशों में कुरान का अनुवाद हुआ, पर चूँकि अरबी में एक-एक शब्द के कई-कई अर्थ होते हैं, इसलिए प्रामाणिक अनुवाद कम ही हुए। अकबर एवं दाराशिकोह के उत्साह से भारतीय आर्ष ग्रन्थों के फारसी अनुवाद हुए। चीनी यात्री फाहियान, शांग युं, थीजिंग, जॉन्ग जॉन्ग या भारतीय विद्वान धर्मकीर्ति, कुमारजीव, बुद्धजीव, धर्मक्षेत्र, संघमूर्ति, महेन्द्र-संघमित्रा आदि के माध्यम से सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुए। पौराणिक ग्रन्थों के अनुवाद, अनुवाद कर्म को प्रातिष्ठानिक सहायता, समारोहपूर्वक शास्त्रार्थ का आयोजन होता रहा। संगठित और सांस्थानिक रूप से अनुवाद करवाने की दिशा में अब्बासीद खलीफा अलमंसूर अपूर्व निष्ठा दिखाई। भारतीय ज्योतिष, खगोल विज्ञान, गणित आदि से सम्बन्धित रचनाओं के अनुवाद कराए गए। अरस्तू के 'नीतिशास्त्र' जैसी कृतियों के अनुवाद भी इस दौरान हुए। 'रामायण', 'महाभारत', 'वृहत्कथामंजरी', 'पंचतन्त्र', 'जातक कथाएँ' आदि के जितने संस्करण प्रचलित हैं, उनके मुक्त अनुवादों को मान्यता दिलाने में भी विद्वानों की बड़ी भूमिका है।

धर्म, दर्शन, साहित्य की कृतियों की समझ बनाने के लिए अनुवाद की मूल आवश्यकता के मद्देनजर भारत में टीका, व्याख्या, अनुवाद का नैरन्तर्य सदा बना रहा। भारत को जानने के लिए वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि के अनुवाद दूसरे देशों के लोग तो कर ही रहे थे, उनके अनुकथन और भी कई रूपों में हो रहे थे। अकेले रामायण का अनुवाद भारत की कई भाषाओं में हुआ, और आज की तारीख में वे सब अपनी-अपनी भाषा के महान ग्रन्थ माने जाते हैं। कुल, वर्ण, क्षेत्र, जाति, नस्ल, लिंग भेद आदि की सीमाबन्दी से परे गौतम बुद्ध की शिक्षा का प्रचार-प्रसार अनुवाद के कारण ही सम्भव हो सका। बौद्ध साहित्य के प्रचार-प्रसार के क्रम में अनुवाद की श्रीलंकाई, चीनी, कोरियाई एवं जापानी, दक्षिण एशियाई, तिब्बती, यूरोपीय, भारतीय बौद्ध परम्परा की व्यवस्थित पद्धति स्पष्ट हुई।

अनुवाद का इतिहास एवं परम्परा विषय पर अध्ययन करते हुए *अनुवाद की एशियाई परम्परा : अर्थ एवं क्षेत्र विस्तार* शीर्षक इस खण्ड में *अनुवाद की एशियाई परम्परा : एक परिचय, अनुवाद की भारतीय परम्परा, अनुवाद की चीनी परम्परा,* और *अनुवाद की बौद्ध परम्परा* शीर्षक की चार इकाइयाँ हैं। इन चारो इकाइयों में अनुवाद की एशियाई परम्परा के उक्त सभी आयामों पर सारगर्भित विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 1 अनुवाद की एशियाई परम्परा : एक परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 एशियाई देशों का भाषिक सन्दर्भ

1.3 पश्चिमी अनुवाद-परम्परा और एशियाई प्रयाण

1.4 अनुवाद की एशियाई परम्परा

1.5 प्राचीन और मध्यकालीन अनुवाद

1.6 औपनिवेशक अनुवाद : घाल-मेल, अनुकूलन

1.7 चीनी और जापानी अनुवाद

1.8 मध्येशियाई अनुवाद : एक बानगी

1.9 अनुवाद की एशियाई सैद्धान्तिकी

1.10 अनुवाद की बगदाद परम्परा

1.11 रामकथा के अनुवाद/आत्मसातीकरण

1.12 सारांश

1.13 अभ्यास के लिए प्रश्न

1.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

यह इकाई एशियाई देशों की भाषाओं के अनुवाद परम्परा से सम्बन्धित है। इस इकाई को पढ़ने से आप जान सकेंगे कि :

- एशिया महादेश की भाषिक परिस्थितियाँ क्या हैं?
- इन भाषाओं के बीच सांस्कृतिक सूत्र क्या हैं?
- इनमें अनुवाद की परम्परा और स्थिति क्या है?
- एशियाई देशों में अनुवाद परम्परा कैसी रही है?

1.1 प्रस्तावना

आकार और जनसंख्या – दोनों ही दृष्टियों से विश्व का सबसे बड़ा महाद्वीप एशिया, उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित है। पश्चिम में इसकी सीमाएँ यूरोप से मिलती हैं। एशिया और यूरोप को मिलाकर कभी-कभी यूरेशिया भी कहा जाता है।

एशियाई महाद्वीप भू-मध्य सागर, अन्ध सागर, आर्कटिक महासागर, प्रशान्त महासागर, और हिन्द महासागर से घिरा हुआ है। कॉकस पर्वत-शृंखला और यूराल पर्वत प्राकृतिक रूप से एशिया को यूरोप से अलग करते हैं। एशिया महादेश के प्रमुख राष्ट्र हैं—अजरबेजान, अर्मेनिया, इजरायल, इण्डोनेशिया, ईरान, इराक, उज्बेकिस्तान, उत्तरी कोरिया, ओमान, कम्बोडिया, कज़ाकिस्तान, कुवैत, किर्गिस्तान, चीन, जापान, जॉर्डन, टर्की, तुर्कमेनिस्तान, ताइवान, तजाकिस्तान, थाईलैण्ड, दक्षिणी कोरिया, नेपाल, पाकिस्तान, पूर्वी तिमोर, फिलिपीन्स, बंगलादेश, बर्मा, बहरैन, भूटान, ब्रूनेई, भारत, मंगोलिया, मलेशिया, मालदीव, कतर, लाओस, लेबनान, श्रीलंका, वियतनाम, संयुक्त अरब अमीरात, सऊदी अरब, सिंगापुर, सीरिया, येमान आदि।

इसी महाद्वीप में सुमेर सभ्यता, भारतीय सभ्यता, चीनी सभ्यता जैसी प्राचीन मानव सभ्यताओं का जन्म हुआ। चीन और भारत—विश्व के सर्वाधिक जनसंख्या वाले देश भी हैं।

पश्चिम में स्थित लम्बी भू-सीमा यूरोप को एशिया से पृथक करती है। यह सीमा उत्तर-दक्षिण दिशा में नीचे की ओर रूस में यूराल पर्वत तक जाती है, यूराल नदी के किनारे-किनारे कैस्पियन सागर तक, और फिर काकेशस पर्वतों से होते हुए अन्ध सागर तक। रूस का लगभग तीन चौथाई भू-भाग एशिया में है, और शेष यूरोप में। चार अन्य एशियाई देशों के कुछ भू-भाग भी यूरोप की सीमा में आते हैं।

विश्व के कुल भू-भाग का लगभग 30 प्रतिशत एशिया में है, इस महाद्वीप की जनसंख्या अन्य सभी महाद्वीपों की संयुक्त जनसंख्या से अधिक है, लगभग 60 प्रतिशत। उत्तर में बर्फीले आर्कटिक से लेकर दक्षिण में ऊष्ण भूमध्य रेखा तक यह महाद्वीप लगभग 4,45,79,000 कि.मी. क्षेत्र में फैला हुआ है, जिसमें कुछ विशाल खाली रेगिस्तान, विश्व के सबसे ऊँचे पर्वत और कुछ सबसे लम्बी नदियाँ भी शामिल हैं।

मार्च, 2013 को वीकीपीडिया पर दिए गए आँकड़ों के अनुसार इसकी जनसंख्या 387.9 करोड़ तथा जनसंख्या घनत्व प्रति वर्ग किलोमीटर 89 है। इतने बड़े जनसंकुल भू-खण्ड में भाषाई और सांस्कृतिक विविधता का फलक विस्तृत होना लाजिमी है। भाव, विचार और वस्तु के आदान-प्रदान हेतु अनुवाद कार्य की लम्बी परम्परा का होना भी यहाँ तय ही है। वर्ना पूरे भौगोलिक परिदृश्य में अपरिचय का सन्नाटा देर तक छाया रहता।

1.2 एशियाई देशों का भाषिक सन्दर्भ

मार्च 2013 तक विकीपीडिया तथा लिंग्वामॉन पर दिए गए आँकड़ों के अनुसार सैंतालीस देशों के इस विशाल महाद्वीप में लगभग 2000 भाषाएँ बोली जाती हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न भाषाई परिवारों में बाँटा गया है। इनमें से कुछ तो सिर्फ एशिया महाद्वीप में पाए जाते हैं और अन्य महाद्वीपों को विश्व से जोड़ते हैं। सिर्फ एशियाई महाद्वीप में पाए जाने वाले भाषा-परिवार हैं : आलताइक, द्रविड़, सिनो-तिब्बती, औस्ट्रो-एशियाई, अफ्रीकी-एशियाई, भारतीय-यूरोपीय आदि।

भाषाई परिवारों में सम्मिलित भाषाओं के अलावा भी कुछ ऐसी भाषाएँ हैं, जिनके स्रोत की सही-सही जानकारी नहीं मिल पाई है, उनमें से कुछ नाम जापानी, कोरियाई, आइनु, गिलियाक या फिर बुरुशास्की के लिए जा सकते हैं।

बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से एशिया महाद्वीप में अत्यधिक विविधताएँ हैं। कुछ भाषाएँ तो ऐसी भी हैं जिनके बोलने वाले कुछ ही बचे हैं; उदाहरण के लिए, साइबेरिया की कुछ भाषाओं का नाम लिया जा सकता है। ध्यान देने की बात है कि एशिया की तीन भाषाएँ—चीनी, हिन्दी और बांग्ला—विश्व की पाँच सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषाओं में से हैं।

एशिया की आधिकारिक भाषाएँ अधिकतर देशों में स्थानिक हैं। इस वजह से बहुत-सी स्थानीय भाषाएँ दूसरी स्थानीय भाषाओं के दबाव से खतरे में हैं। खतरा तो औपनिवेशिक भाषाओं से भी है, पर दूसरे महाद्वीपों की तरह यह खतरा यहाँ अपेक्षाकृत कम है। इसके बावजूद ऐसे देश भी हैं, जहाँ अंग्रेजी या फ्रांसीसी जैसी भाषाएँ आधिकारिक हैं। भारत, पाकिस्तान, सिंगापुर जैसे देशों में अंग्रेजी सह-आधिकारिक है, जबकि कम्बोडिया और वियतनाम जैसे देशों में फ्रांसीसी मान्यता-प्राप्त भाषा है।

उल्लेखनीय है कि एशियाई भाषाओं ने दुनिया भर की भाषाओं को ढेर सारे शब्द दिए हैं--तूफान, चाय (चीनी), जंगल, शैम्पू (हिन्दी), आम (तमिल), लांचा, काराम्बोला (मलय), खाकी, बोनसाई (जापानी), साग, प्याला (फारसी), जूता, कुश्क (तुर्की), लामा (तिब्बती), पांडा (नेपालि), मामुत (ओसेत) जैसे ढेर सारे शब्द इसके उदाहरण हैं।

1.3 पश्चिमी अनुवाद-परम्परा और एशियाई प्रयाण

अन्य विमर्शों की तरह अनुवाद-विमर्श पर भी पश्चिमी प्रवक्ताओं का बोलबाला रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी के आस-पास बाइबिल के अनुवाद होने लगे और सोलहवीं शताब्दी के आस-पास ग्रीक और रोमन (क्लासिकल) साहित्य के अनुवाद की भी विशद परम्परा बनी।

रोमन और ग्रीक अनुवादों के पीछे तो आत्मसम्वर्द्धन और 'कुछ अच्छा सीखने' की मनोवृत्ति काम कर रही थी। पोप-ड्रायडन जैसे कवि कालातीत रचनाओं को आत्मसात करते हुए अपनी भाषा का गौरव ही बढ़ा रहे थे और आगे आने वाले लेखकों के सामने अच्छे लेखन का मॉडेल दे रहे थे।

औपनिवेशिक शासन के गरब-गुमान ने अंग्रेजी अनुवादों से वह विनय छीन लिया जिस कारण मनुष्य 'दूसरों' की तरफ से सोचने का अभ्यासी होता है, और लगातार यह यत्न करता रहता है (अनुवादों में और अन्य उपक्रमों में भी) कि मैं दूसरों के हित में अपने श्रम का विनियोग कैसे करूँ, क्या करूँ कि सामने वाले को अच्छा लगे और उसका हित भी सधे, उसकी (पाठ की या अन्य) मुश्किलें दूर हों, वृहत्तर जीवन का मर्म समझने में उसको आसानी हो! यह दृष्टिकोण विकसित होते-होते कई सदियाँ बीत गईं। कुछ मिशनरी और ब्रिटिश अफसर, जैसे एलिफिस्टन, इस तरह के उदार, भाष्यवादी अनुवादों की ओर प्रवृत्त हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में न सिर्फ बाइबिल बल्कि पाठ्य-पुस्तकों के अनुवाद में भी अनुवाद का भाष्यवादी दर्शन काम करने लगा और पश्चिमी 'हरमेन्यूटिक्स' से अलग, एशिया की 'अंतःपाठीय' गपशप वाली परम्परा में इसका विकास हुआ।

1.4 अनुवाद की एशियाई परम्परा

एशियाई देशों में 'लोक' और 'शास्त्र'--दोनों के भाष्यपरक अनुवादों की सदियों पुरानी परम्परा रही है। जगजाहिर है कि अनुवाद कार्य किसी पाठ का एक भाषा से दूसरी में अन्तरण है। मूल भाषा को हम स्रोत भाषा और अनूदित भाषा को लक्ष्य भाषा कहते हैं। इसी क्रम में भाषान्तरित पाठ मूल पाठ की मस्तमौला सन्तान लगता है। अभिभावक-पाठ के प्रति उसका राग भरपूर रहता है पर वह शब्दशः अनुसरण नहीं करती, बीच-बीच में अपनी स्वायत्त उड़ानें भी भरती है, बेशक वह उड़ान उतनी स्वच्छन्द नहीं होती। अनूदित पाठ में मूल पाठ की परम्परा आगे बढ़ाने, पीढ़ी दर पीढ़ी उस पाठ की स्मृतियाँ सुरक्षित रखने, स्थान और काल के थपेड़ों से उसे बचाए रखने, उसकी प्रासंगिकता बनाए रखने की प्रखर धारणा बसी होती है। दरअसल पाठ के कोने-अँतरे में बहुतेरे सूक्ष्म अर्थ छुपे होते हैं; किस युग में कौन-सा अर्थ

लागू होगा, किस स्थान पर, किस समूह में वह नया अवतार लेगा, यह तय करने का सूक्ष्म विवेक अनुवादकों और भाष्यकारों को तो होता ही है, अन्तःपाठीय उड़ानें लेने वाले उन नए लेखकों को भी होता है, जो अपनी परम्परा से मुखर संवाद कायम रखना चाहते हैं और जो जातीय और ऐतिहासिक अनुभूतियों के आलोक में समसामयिक अनुभवों की व्याख्या करते हैं। विगत को आगत से वियुक्त नहीं मानते।

एशियाई देश आध्यात्मिक गुरुओं और भासमान धार्मिक ग्रन्थों, प्रवचनों, श्रुतियों, अनुश्रुतियों, भाष्यों, अनुभाष्यों, वादों-विवादों-सम्वादों का धाम रहे हैं। मत-सम्मत और वैचारिक दृष्टि से तीन महत् इकाइयाँ हम सामने लेकर चलें–

- हिन्दू आर्ष ग्रन्थ,
- बौद्ध और जैन आर्ष ग्रन्थ,
- गुरुग्रन्थ साहिब और कुरान के भाष्यमुखी अनुवाद।

भारत, जापान-जावा-सुमात्रा-चीन और श्रीलंका में अनुवाद शाब्दिक न होकर, भावबोधक और व्याख्यामूलक है–एक तरह से अंतःपाठीय। इनकी देशी और मार्गी परम्पराएँ कई रही हैं। कुरान का अनुवाद मध्य एशिया के देशों में हुआ और चूँकि अरबी में एक-एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, इसलिए प्रामाणिक अनुवाद कम ही हुए और राजनीतिक कारणों से भी अंतःपाठीय उड़ानों का कोई स्कोप नहीं रहा। राजनीतिक कारणों से पाठ की दुरूहता बनाए रखी गई। युग के अनुसार उनमें भी नए अर्थों के सन्धान सम्भव थे, पर सामान्य लोगों को पाठ से अन्तरंग गपशप की छूट नहीं मिली। अनुवाद हुए तो अच्छे और सुसंगत, पर थोड़े-थोड़े औपचारिक-से।

भारतीय आर्ष ग्रन्थों के अनुवाद फारसी तक में हुए, इसके पीछे दाराशिकोह जैसे उदार लोगों की बड़ी भूमिका है। चीनी यात्री फाहियान, शांग युं, थीजिंग, जॉन्ग जॉन्ग या भारतीय विद्वान धर्मकीर्ति, कुमारजीव, बुद्धजीव, धर्मक्षेत्र, संघमूर्ति, महेन्द्र-संघमित्रा आदि के माध्यम से जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुए, उसका एक प्रमाण सोकाकाई नामक बौद्ध सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित लिटर्जी की भाषा है। जापान के शान्ति-सेनानी, महर्षि इकेदा के शिष्य विश्व के कोने-कोने में इसका सस्वर पाठ परिवेश-संशोधन की खातिर करते हैं और इसकी भाषा प्राचीन चीनी है। मूल पाठ संस्कृत-पालि का है। उसका अनुवाद कभी चीनी में कुमारजीव ने किया। मजे की बात यह है कि रोमन लिपि में वह दुनिया के सारे देशों के शान्ति-सेनानियों के बीच बँटता है। यह शोकाकाई पढ़े-लिखे समृद्ध लोगों का ऐसा संगठन है जिसका चरित्र विश्वयुद्ध के बाद पनपी 'फिलेनथ्रोपिस्ट सोसाइटी' से मिलता-जुलता है–यह एक तरह का सहायता मण्डल (हेल्प ग्रुप) है, जो सबके संकट में नैतिक अवलम्ब देता है, थोड़ा आर्थिक अवलम्ब भी; और मिलकर उच्च स्वर में पाठ करता है, एक ऐसी लिटर्जी के अनुवाद का एक रोचक उदाहरण है :

Myo ho ren ge kyo
Hoben-pon. Dai-ni
Niji seson. Ju sanmai. Anjo...
म्यो हो रेंगे क्यो
होबेन पॉन दाई नी
नी जी से सॉन जुसेनमाई आन्जो

यहाँ 'Myo' का उच्चारण 'नम्यो' की तरह होता है और जानकार लोग बताते हैं कि संस्कृत/ हिन्दी के 'नमन' का ही अर्थ निकलता है। यहाँ पूरा स्तोत्र जो प्राचीन जापानी-चीनी और पालि अनुवादों के विभिन्न संस्करणों की अनुगूँजों की छींट है, कुल मिलाकर यह कहता है कि हमारे भीतर के कीचड़ में जो अस्फुट कमल सिर झुकाए खड़ा है, प्रज्ञा के प्रकाश से पूरा खिल जाए। लद्दाख के मन्दिरों में 'ऊँ मणिपद्मोऽहं' आदि जो गाया जाता है, उसका भी आशय प्रायः यही है। चीन में महायान के महाप्रचारक बोधिसत्व कुमारजीव ने इस 'सद्धर्मपुण्डरीक' के सिवा अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण सूत्रों, जैसे पारमितासूत्र, सत्शास्त्र, विमलकीर्ति निर्देश आदि का अनुवाद सन् 405 के आस-पास किया।

कुमारजीव (सन् 344-413) एक उद्भट अनुवादक थे। बौद्धधर्म के इस महान् प्रचारक ने जेल में चीनी भाषा सीखी थी। सामान्य कैदियों के बीच रहते हुए बोलचाल की आम भाषा का उनको अभ्यास हो गया। बोलचाल की इसी सामान्य भाषा में साहित्य लिखने की खातिर एक बड़ा आन्दोलन तो बाद में चला, जब साधारण लोगों ने

ऊर्ध्वबाहु प्रतिज्ञा ली कि 'हमारे हाथ वही लिखेंगे जो हमारे मुँह बोलते हैं' पर कुमारजीव ने कई दशक पहले इस क्रांतिकारी पहल की भूमिका रच दी। उनके सारे के सारे अनुवाद बोलचाल की भाषा के निकट होते हुए भी महिमामय और प्रांजल हैं। जिस मध्यम निकाय के प्रस्तोता वे थे, उनकी भाषा-शैली भी उसी 'मध्यमनिकाय' का परावर्तन जान पड़ती है।

सन् 382 में धर्मप्रिय आदि द्वारा किए गए समस्त अनुवाद इसके आगे उलझे हुए जान पड़ते हैं। भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा में निष्णात कुमारजीव शब्दार्थ के समीचीन समन्वय का महत्त्व अच्छी तरह जानते थे और उनका प्रधान आग्रह बोधगम्यता (इण्टेलिजिबिलीटी) पर था। अनुवाद को वे सहसंयोजित प्रयास (कोलेबोरेटिव एफोर्ट) मानते थे। सम्वादों के चुटीलेपन और सांगीतिकता की भी रक्षा उन्होंने अपने अनुवादों में भरसक की है।

यह उनके अनुवादों का ही प्रभाव था कि बादशाह लियांग के समय (सन् 502-549) पूरा राज्य बौद्ध हो चुका था। कुमारजीव चीनी विद्वानों के दल के सम्मुख बैठकर पंक्ति-पंक्ति सस्वर पढ़ते थे। एक-एक पंक्ति पर रुककर वे मौखिक रूप से उसका चीनी अभिप्राय बोल-चाल की चीनी भाषा में बता दिया करते थे। विद्वत्-परिषद अपनी आलोचनात्मक टिप्पणी के साथ उसका भाषिक परिष्कार किए चलता था। एक लिपिक संशोधित अनुवाद लिखता चलता था, बाद में कोई सम्पादक उसकी शैली और आन्तरिक सम्बद्धता की जाँच कर लेता था। फिर बाद में कोई अक्षरज्ञाता (कैलीग्राफर) चीनी शब्दों (आइडियोग्राफी) की जाँच-परख कर निश्चिन्त हो जाता था ताकि छोटी-सी असावधानी से भारी भूल की गुंजाइश रह न जाए।

किन वंश के अन्तिम राजा के शासनकाल में कुमारजीव जब वापस चीन आए, उन्होंने आठ साल उनकी राजधानी(फू जियान) में रुककर 35 बौद्ध ग्रन्थों के 300 खण्डों का अनुवाद किया(तैशो त्रिपिटक, खण्ड 55, पृ. 11)। उस दौर के चीनी जन-मन के प्राणवान अनुवाद थे– नागार्जुन की कृतियाँ, पद्मसूत्र-टीका, महायान के अन्य व्यापक सूत्र(महाविवेक सूत्र, विमलकीर्ति सूत्र आदि)।

तियनताई स्कूल ने पुण्डरीक सूत्र के प्रचार-प्रसार में व्यापक भूमिका निभाई और तेरहवीं शताब्दी में निचिरिन दाइशोनिन ने हर क्षण जीवात्मा में तीन हजार मनःस्थितियों की उपस्थिति का दर्शन आत्मसात कर, विशद अध्ययन-मनन के बाद एक हृदयहारी टिप्पणी की कि शाक्य मुनि बुद्ध के सूत्र में कुमारजीव ने अपनी राय जोड़े बगैर जस-के-तस उन तक पहुँचाए; औरों ने तो 'दूध में पानी मिलाया, औषधि में विष' (Value Creation, Aug. 2011, Vol. 6, Issue 8) यू ए ची कावया द्वारा उद्धृत, पृ. 147...

कुमारजीव को लेकर एक किम्बदन्ती भी तब से चीन में चलने लगी कि कुमारजीव को मृत्यूपरान्त जब अग्निपुंज में अर्पित किया गया, हड्डियाँ तो राख हो गईं पर वे एक नीलपद्म पर इस दमक के साथ लेटी रहीं कि सूर्य की रोशनी भी शरमा जाए(The Biographies of Eminent Priests, Taisho Tripitaka, vol. 50, P. 333)। एक श्रेष्ठ अनुवादक के तेज को समर्पित यह प्रतीक कथा एशिया की अनुवाद परम्परा को अलग तरह का छब-दब देती है।

1.5 प्राचीन और मध्यकालीन अनुवाद

दुनिया भर की अर्थ-व्यवस्था और सकल घरेलू उत्पाद(जी.डी.पी.) सन् 1800 तक ईरान-इराक, भारत और चीन से प्रभावित रहा। हिन्द महासागर पर तैर रहे व्यापारिक पोतों और पूरे-के-पूरे सिल्क-रूट के जिस कारण क्रेता-विक्रेता के आपसी संवाद का माध्यम अनुवाद-कीलित मिश्र भाषा बनी। वस्तुओं का क्रय-विक्रय जिस तरह सांस्कृतिक आदान-प्रदान का माध्यम बना, उसकी कहानी बड़ी रोचक है। व्यापारी लोग माल-असबाब के साथ-साथ तरह-तरह के किस्से भी घर लाते थे। मोजाम्बिक से मलक्का तक के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के सिलसिले में हिन्द महासागर पर तैर रहे महापोतों में व्यापारिक गतिविधियों के दौरान हुए अनुवादों का सिलसिला भी शामिल है। इन वस्तुओं के आदान-प्रदान में हृदयों के अनुबन्ध की भी कहानी लिखी जाएगी; पौराणिक कथाएँ, अरेबियन नाइट्स, दाराशिकोह द्वारा पौराणिक ग्रन्थों के अनुवाद, एवं अनुवाद कर्म को प्रातिष्ठानिक सहायता, समारोहपूर्वक शास्त्रार्थ का आयोजन, ... सारी सम्वेदनाएँ वहाँ दर्ज होंगी, जहाँ न आरम्भिक आक्रमण होगा, न थलवर्त्ती व्यापार।

सातवीं शताब्दी के पहले एकरेखीय चाल चलता हुआ सोना पश्चिमी यूरोप से बाइजैण्टियम और फिर हिन्द महासागर के तटीय देशों तक आया। मुस्लिम आक्रमणों तक सोने का संचार बन्द हो गया, चाँदी और चमकीली गाथाओं का चलन बढ़ गया। पारस और बाइजैण्टियम के सोने पर सासानीद की चाँदी और पश्चिमी गौरव-ग्रन्थों पर पौर्वात्य आर्ष ग्रन्थ, लोककथाएँ आदि हावी हुईं।

चीन, म्याँमार, लाओस, थाइलैण्ड, कम्बोडिया, वियतनाम और भारतवर्ष का नैतिक भूगोल विस्तृत होता गया। मार्क्स से विट्फोगल तक 'एशियन मोड ऑफ प्रोडक्शन' हाइड्रॉलिक स्टेट 'ओरिएण्टल डेपोटिज्म' आदि की बात करते नहीं थकते। साहित्य में भी सांस्कृतिक निधियों के बढ़ते प्रभुत्व की बातें लगातार दर्ज हैं। यही वह समय है जब पालि-प्राकृत और संस्कृत से भरपूर अनुवाद विभिन्न देशों की स्थानीय भाषाओं में सारे बौद्धों ने किया।

उधर भारतीय तटों पर तुर्की, आर्मेनिया, पर्शिया, लहूदी, यूरोपीय और बामियान व्यापारियों और अन्य यात्रियों/मिशनरियों का आगमन बना रहा--'खुल जा सिम-सिम' जैसे अनुरोध-भाव से सांस्कृतिक निधियों के गुफा-द्वार का मुँह अनुवाद के जरिए खुलता गया। बाद में सांस्कृतिक उठा-पटक का खेल शुरू हुआ तो कुछ असंगत स्थितियाँ उभरीं, पर इस बात से तो इनकार नहीं ही किया जाएगा कि विश्व की गझिन सांस्कृतिक दृष्टि के विकास में इन अनुवादों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। ब्राउडल लिखते हैं : ऐसा कहा जाता है कि समुद्र सब कुछ है। कोई प्रयास करने को राजी हो तो यह एकता बनाने और आवागमन तथा विनिमय का अवसर प्रदान करता है; अन्यथा यह बहुत बड़ा अवरोध है, जिसे लाँघना बड़ा मुश्किल है।

सामान्य सागर के अलावा कथा-सागर और अनुवाद-सागर पर भी ये प्रपत्तियाँ लागू हैं। *कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया* के पहले खण्ड में भारत के साथ यूरोपियनों के व्यापार के बारे में के. एन. चौधरी लिखते हैं : ''भारत के पश्चिमी तट पर लाल सागर के बीच के व्यापार पर काहिरा-स्थित व्यापारी संगठन करीम का वर्चस्व जरूर था, लेकिन एकाधिकार नहीं था। आर. वी. सर्जेयन्त ने तत्कालीन अरबी स्रोतों के आधार पर ही दिखाया है कि दक्षिण अरब के बन्दरगाहों पर भारतीय जहाज नियमित रूप से आते रहते थे, और पन्द्रहवीं शताब्दी तक तो गुजराती बनिए इस इलाके में बाकायदा बस चुके थे। एस. डी. गोइतियन ने यह दिखाने वाले पर्याप्त साक्ष्य जुटाए हैं कि भारतीय व्यापार का चरित्र काफी कॉस्मोपॉलिटन था। इसमें यहूदी व्यापारी तक अपने 'हिन्दू भाइयों' और मुस्लिम दोस्तों के साथ ऊँची हैसियत हासिल कर सकते थे। ऐसा लगता है कि बारहवीं सदी में गठित करीब पन्द्रहवीं सदी तक आते-आते हिन्द महासागर में पुर्तगालियों के प्रकट होने के पहले ही काफी दबाव में आ चुका है।''

पियरसन और चौधरी ने ठोस तथ्यों के आलोक में मेहराज ठाकुर (महामति प्राणनाथ) के अरब तक फैले व्यापार की चर्चा की है। समुद्र यात्रा से परहेज करने वाले हिन्दू व्यापारी भी अपने विचारों और रुझानों में इतने भूले हुए थे कि मुसलमानों को दोस्त समझने वाले यहूदी व्यापारी उन्हें अपना 'भाई' समझते थे। बहुतेरी यहूदी गाथाओं के चरित्र हिन्दू हैं। लोग इन दिनों उनकी 'रैशनल अकाउण्टिंग' और 'रैशनल बिजनेस एथिक्स' की बात करते नहीं थकते, और गौर करने की बात यह है कि बिना यूरोपियन हस्तक्षेप के भी एशियाई देशों में न सिर्फ व्यापारिक बल्कि सांस्कृतिक सम्वाद कायम था, और बहुतेरी लोक-कथाओं की अन्तःपाठीय उड़ानें इसका प्रमाण हैं; फारस का घोड़ा, उड़नखटोला आदि मोटिफ भी साझा संस्कृति की दास्तान का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण है।

पुरुषोत्तम अग्रवाल भी सप्रमाण लिखते हैं कि प्रबोधन का सिर्फ यूरोपीय संस्करण प्रचार में आया... वैसी वैचारिक गतिविधियाँ एशिया में भी हुई, लेकिन बहुत से प्रबुद्ध विचारक (और अनुवादक) मानक-स्मृति में नाम दर्ज करा पाए तो बस इसलिए कि वे जर्मन, फ्रेंच या अंग्रेजी में नहीं, चीन, भारत, अरब और अफ्रीका की भाषाओं में विचार कर रहे थे।

इनके आपसी अनुवाद राजनीतिक और प्रातिष्ठानिक सम्वर्द्धन के अभाव में बिखरे-बिखरे-से रहे, पर लोकसाहित्य में अनुवाद-प्रस्तावित सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कई प्रमाण मिल ही जाते हैं।

1.6 औपनिवेशक अनुवाद : घाल-मेल, अनुकूलन

विलियम जोन्स औपनिवेशिक अनुवाद का एक जाना-माना नाम है। उन्होंने जयदेव के 'गीत गोविन्द' (1792) और कालिदास की 'अभिज्ञान शकुन्तलम' (1789) के अनुवाद किए थे।

भारतीय परम्परा में 'गीत गोविन्द' एक माँसल काव्य है, प्रेमियों के आपसी सम्वाद, उनके भावगत/देहगत सौन्दर्य का निरूपण उसे एक अलग पहचान देते हैं। पर अनुवाद में इसका कायापलट हो गया है और जोन्स उसे पारसी और हिन्दी की रहस्यवादी काव्यधारा का अंग मानते हैं। अपनी भूमिका में वे इसकी चर्चा तो करते हैं कि अपनी ओर से उन्होंने बहुत ज्यादा रद्दोबदल नहीं की किन्तु उनका हर छन्द उसे यूरोपियों के आगे एक 'अजूबा' बनाकर परोसने की मनोवृत्ति से ग्रस्त है। इसे पढ़ने के बाद ही समझ में आता है कि अनुवाद की एशियाई परम्परा से निहायत अलग इसका चरित्र है। आशीष नन्दी के शब्दों में कहें तो ''औपनिवेशिक शासन ने अपनी वैधानिकता ही इस सूत्र से रची कि आदिम सम्वेगों और बचपन के बीच समानान्तर सम्बन्ध कायम करो।'' कुछ सभ्यताएँ अभी बाल्यकाल से ही गुजर रही हैं और उन पर कृपा बरसाना, उन्हें प्रोत्साहित करना जरूरी है। अनुवाद इसी प्रोत्साहन का एक सूत्र था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम कुछ वर्षों में एडविन आरनॉल्ड ने *Pearls of Faith in the Orient* नाम से भारतीय आर्ष-ग्रन्थों के कुछ चुनिन्दा हिस्सों का अनुवाद किया। उधर 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' ने मुकुन्दराम चक्रवर्ती की लम्बी कविता *'चण्डीमंगल काव्य'* का अनुवाद भी प्रायोजित कराया और *'हितोपदेश'* का भी। दोनों के अनुवाद में अनुवाद की यूरोपीय परम्परा से एक स्पष्ट प्रयाण दिखाई देता है, और वे अनुवाद एशियाई परम्परा के भाष्यों से भी सर्वथा अलग हैं। इस काल के प्रायः सारे अनुवादों पर मैकॉले के 'मिनट्स ऑन एजुकेशन' की छाया है, जिसका एक हिस्सा हम उद्धृत कर रहे हैं :

''मुझे न संस्कृत का ज्ञान है, न ही अरबी का। ये ग्रन्थ मैंने अनुवाद में ही पढ़े हैं, या पढ़े लिखे लोगों से उनकी चर्चा सुनी है। उन सबका मत कुल मिलाकर यही है कि भारत और अरेबिया के सारे ग्रन्थ मिलकर एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय का खाना भी न भर पाएँगे।

कविता में इतनी कुछ गति जरूर है, पर सब काव्य ग्रन्थ मिलकर भी इंग्लैण्ड के प्राथमिक विद्यालयों में चलने वाले सार-संक्षेप से भी हीन है।'' *(मैकॉले, टी.बी., सेलेक्टेड राइटिंग, सं. जॉन क्लाइव टॉमस पिनी, शिकागो पृ. 241, 1972)*

यूरोपीय अनुवाद की न्यूनकारी परम्परा एक खास तरह की प्रतीक व्यवस्था (सिम्बॉलिक ऑर्डर) बना गई और भारतीय पाठ के लिए महाद्वार में प्रवेश पाने की पहली योग्यता बन गई। अपनी परम्पराओं, अपनी जातीय स्मृतियों, अपनी कथन भंगिमाओं से अलग एक न्यूनीकृत सार-संक्षेप परोसा जाने लगा। और तो और, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'ऑटो अनुवाद' भी इससे अछूते न रहे। कई बार अनुवाद (अंग्रेजों की समझ में आने लायक) नए बिम्बों/नई वाक्य संरचनाओं से लकदक एक नया पाठ बन गया।

क्रिश्चियन साइन्स मोनीटर (16.10.1916) में रवि बाबू की एक स्वीकारोक्ति भी छपी। सियाटेल के एक कवि पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा : ''काश, आप इसे मूल बंगला में पढ़ पाते। मेरे अंग्रेजी अनुवाद उसका अक्स नहीं उकेर पाते। हर देश की अपनी प्रतीक-भाषा होती है, उसकी अभिव्यक्ति के अपने प्रतीक होते हैं। जब मैं खुद अपनी कृतियों का अनुवाद करता हूँ, मुझे नए बिम्ब ढूँढने पड़ते हैं।''

इसी तरह की स्वीकारोक्ति एलिस रोथेन्स्टीन को लिखे अपने पत्र में रवि बाबू देते हैं : जब तक मैं पश्चिम में हूँ साबित करना पड़ता है कि भारत के नागरिक भी समय के पाबन्द होते हैं और अपने आहार-व्यवहार की भाषा की उच्चारण शैली तथा मुहावरों के प्रयोग में वे वैसे ही हैं जैसे आप (पश्चिम के लोग)। दरअसल हमें खुद का अनुवाद करना होता है, अन्यथा आप समझेंगे ही नहीं; बल्कि कोई उल्टी समझ पैदा हो जाएगी। यदि मैं पूरब का रवीन्द्रनाथ होता तो मैं आपके सामने वैसा हाजिर होता जैसा इस क्षण हूँ, और मेरे लोग निश्चय ही मुझ पर यह सोचकर हँसते कि यह आदमी तारीख भूल गया है। पर अनुवाद को एक भिन्न व्याकरण का अनुसरण करना पड़ता है, और बहुत सही होना होता है *(Tagore, Rabindranath in English Translation, Rabindranath Rachnaboli, the centenary Edition in 15 values Govt. of W. B., 1961).*

विलियम पियरसन को एक पत्र में वे लिखते हैं कि अंग्रेजी अनुवाद में मूल बांग्ला उपन्यास के कुछ हिस्से छोड़ दिए जाएँ, तो अंग्रेजी पाठकों को यह अटपटा लगेगा, वे इससे ऊब जाएँगे।

इसी अधैर्य का फल है कि एशिया का सद्साहित्य भी फ्रांस, जर्मनी या इंग्लैण्ड में अनुवाद की खातिर चुना ही नहीं जाता। 'पढ़े जाने', 'चुने जाने' उनकी निगाहों में योग्य ठहराए जाने की चिन्ता उन ग्राम-बालाओं की चिन्ता से मिलती-जुलती है जिन्हें

बार-बार लड़के वाले देख-देखकर छाँट जाते हैं। दुल्हन वही जो पिया मन भाए! पिया चाहे लाख फण्टूस हों लेकिन ढलना उन्हीं की पसन्द के अनुसार होगा– यह चिन्ता अनुचित पर स्वाभाविक है।

पूरी 'गीतांजलि' और अन्य पाँच काव्य संकलनों के अनुवाद पर यह चिन्ता हावी है। अंग्रेजी अनुवाद में भारतीय भक्ति का मान-मनुहार, ठस्सा, सख्य भाव आदि एक करुणाविगलित क्रिश्चियन भावधारा में अनूदित हो गए हैं और कुल मिलाकर अनुवाद इसी रूढ़ि में कैद हो जाते हैं कि विश्वयुद्ध से थके-हारे, लुटे-पिटे यूरोप को पूरब का कोई रहस्यवादी ठण्डे स्वर में शान्ति-सन्देश दिए जा रहा है, जैसे यह भी एक सेवा हो।

एक उदाहरण से हम यह बात साफ कर सकते हैं–

गीतांजलि का तीसरा गीत है :

I know not how thou singest, my Master.
I ever listen in silent amazement
The light of the music illuminates the world

The light of the music turns from sky to sky, the holy stream of music breaks through all stony obstacles and rushes on

My heart longs to join in the song, but vainly struggles not into song, and I cry out baffled

Thou hast made my heart captive in the endless meshes of thy music, my Master.

इस अनुवाद में 'मास्टर' शब्द बार-बार आता है। अब देखा जाए कि शाब्दिक अनुवाद कितना अलग है :

How do you sing guni
I listen will amazement.
The light of your music envelops the would.
The breeze of melody fills the sky
Streams of music break out of solid rocks and flow torrentially.
I wish to sing melody in my voice.
I wish to say something, but do not find the words; my heart cries because of the defeat,
What is this trap you have caught around me?
I weave the net of music all around me.

एक दूसरे उदाहरण में अजब तरह की सहमी हुई संक्षिप्तता सामने आती है। कविता का शीर्षक है– *हृदयाकाश*। इसके शाब्दिक अनुवाद से इसका फर्क पहचाना जा सकता है :

My heart the bird of wildernes.
Has found its sky in your eyes,
They are the cradle of the morning,
They are the kingdom of the stars.
My songs are lost in their depths
Let me but soar in that sky, in its
Lonely immensity. yet me but cleave its clouds and spread wings in its sunshine.

(रवीन्द्रनाथ का अनुवाद)

I have surrendered, bird of the sky.
I have found a new sky in your eyes.
What are you hiding under your lashes?
The traces of dawn appear when you smile.

Heart desires to fly there alone
To dwell in the land of the eye star.
That sky has made me sing.
You climax of music wants to lose itself here.
The sky of your heart is endless and lonely- It is calm and beautiful.
If I cross that expanse and reach there with my golden wings
My heart will be a Chatak and beg for tears
My soul will crave for the light of smiles. (शब्दानुवाद)

रेखांकित करने वाली बात है कि धीरे-धीरे रवि बाबू अपनी इस अनुकूलन-कुण्ठा से उबरे। बाद के कई पत्र इसके प्रमाण हैं कि धीरे-धीरे उन्होंने एशिया की भाष्य-परम्परा की लय में 'अटपटेपन' की सुरक्षा का महत्त्व समझ लिया। अपनी रक्षा तो प्रेम में भी जायज है, तो अनुवाद में क्यों नहीं होगी।

दिनेशचन्द्र सेन को लिखे अपने पत्र में उन्होंने माना कि अपनी रचनाओं के अनुवाद उन्होंने स्वयं किए, इसलिए इतनी छूटें लीं, अंग्रेजी भाषा का अधूरा ज्ञान हर दुरूह पत्थर लाँघते-फलाँगते चलने की प्रवृत्ति का वाहक बना। अजित चक्रवर्ती को लिखे पत्र में उन्होंने कहा कि अंग्रेजी का केवल सार-संक्षेप वे कर पाते हैं; ग्राम-प्रान्तर में बहुएँ सारे गहने-कपड़ों से लकदक चलती हैं, सुदूर यात्रा पर (और तीर्थयात्रा पर) निकलते हुए उन्हें सादा बाना धारण करना पड़ता है, पर सिन्दूर तो वे फिर भी नहीं त्यागतीं।

इस बिम्ब की मजेदार बात यह है कि सुदूर देश की यात्रा उन्हें तीर्थयात्रा से तुलनीय जान पड़ती है, और सार-संक्षेप ही सिन्दूर का प्रतीक-चिह्न बनकर मुस्कुराता है। यह होती है भाषा की प्रतीक-व्यवस्था जिसे लाँघ पाना सचमुच कठिन होता है।

ऐसी तमाम चुनौतियों से उबरती हुई अनुवाद की एशियाई परम्परा आज जिस मुकाम पर पहुँची है, वहाँ वह आत्मविश्वास से भरी हुई दिखती है—सलमान रुश्दी सरीखे पश्चिम में स्थित भारतीय अंग्रेजी लेखकों के आँके-बाँके आक्षेपों के बावजूद ए. के. रामानुजन, सुजीत मुखर्जी, अमित चौधरी, हरीश त्रिवेदी, हरीश नारंग, जे.जी.वी. प्रसाद, मीनाक्षी, और इनाक्षी मुखर्जी, जसवीर जैन, आनन्द प्रकाश, ऋतु मेनन जैसे हजारों अनुवादक धीर-भाव से अपना काम किए जा रहे हैं और एशियाई अनुवाद की यह गझिन परम्परा चीन और जापान में भी अपने ढंग से भास्वर हो एकध्रुवीय हुई आती इस दुनिया का एक प्रबल एशियाई प्रतिपक्ष रचती जान पड़ती है।

1.7 चीनी और जापानी अनुवाद

चीन में जो मिशनरी (सेंट फ्रांसिस से लेकर रिसी तक) आए, कन्फ्यूशियस के प्रज्ञा पक्ष से उनका सार्थक सम्वाद हुआ और सयानेपन से उन्होंने दोतरफा अनुवाद की एक नई परम्परा की नींव डाली :

Shangdi (God) is what you call Tain (Heaven). He once inspired Confucius, Mencius and many of your past Emperors and king. We are not here to deny your Confucian tradition but to present to you something complementary.(1995)

किन्तु एक व्यापारिक औद्योगिक संस्कृति के सामान्य समझ-बूझ (कॉमन सेन्स) का अनुवाद इतना आसान नहीं था। प्रतिरोध के कई बिन्दु उभरे। यिंग, यांग और मिंग घरानों ने पश्चिमीकरण का पुरजोर विरोध किया। किन्तु ओपियम युद्ध(1540) के बाद जो यांगू आन्दोलन चला, उसमें पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी शास्त्रों के विशद अनुवाद की जरूरत रेखांकित हुई। उन दिनों बड़ी संख्या में चीनी छात्रों को छात्रवृत्ति दे-देकर पश्चिम भेजा गया और बाद के वर्षों में वे ही पारम्परिक ग्रन्थों के आधुनिक अनुवादों/भाष्यों के प्रतिपालक बने।

वैज्ञानिक अनुवाद और भी कठिन सिद्ध हुए। डार्विन का विकासवाद एक ऐसी भाषिक परम्परा में कैसे अनूदित हो पाता जहाँ प्रकृति और मनुष्य एकाकार थे, किसी पदानुक्रम का शिकार नहीं, रैखिक काल की गति जहाँ चक्राकार हो, वहाँ प्रगति की अवधारणा समझा पाना समाज वैज्ञानिकों के लिए भी कठिन था।

जे. एस. मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद आधुनिक चीनी में यान ने किया, और उसकी भूमिका में वे लिखते हैं कि 'फ्रीडम' चीनी भाषा में 'लिबर्टी' से अलग व्याप्ति रखता है : When a person is imprisoned in English, he is said to lose his liberty, but not his justice. When one unties a dog in English it is said. To set the dog at liberty that is to give the dog *youzi* (freedom) but not *gong dus* (justice).The two are related but not to be mixed.

इस महत्त्वपूर्ण अनुवाद में भी कई जगह सार-संक्षेप से काम चलाया गया है और मातृभाषा की नाटकीयता और जीवन्तता बरकरार रखने की पूरी कोशिश हुई है : इस नई तरह के वाक्य गठन की पहल से महत्त्वपूर्ण काम हुआ है। भावक मन को दैवी साम्राज्य की मनोभूमि से विकासवाद की मनोभूमि तक लाने में इन अनुवादों की महती भूमिका रही है; एशियाई अनुवाद-परम्परा की यह एक नई कड़ी है।

जापान के साथ मुश्किल थी कि तांग राजवंश (सन् 618-907) तक तो यह मुख्यतः मौखिक भाषा ही रही, बाद के वर्षों में चीनी भाषा-चिह्नों से इसने काम चलाया और जिन दिनों चीनी लोग पश्चिमी संस्कृति के प्रतिरोध में लगे थे, चुपचाप यह पश्चिमी क्लासिकों और शास्त्रों, ज्ञान-प्रत्याख्यान के नए स्रोतों का अनुवाद करती गई। एक खास तरह की अनुवाद भाषा का विकास होता गया जो काफी हद तक 'परफॉर्मेटिव' थी। व्यक्तिवाद, स्त्रीवाद, आधुनिकता, प्रजातन्त्र आदि का एक नया भाष्य तैयार हुआ और आज उसका जो एक अलग चरित्र उभरा है– सबके लिए एक मिसाल-सी सामने रखता है।

तीसरी चौथी शताब्दी में जब बौद्ध साधक चीन गए, उन्होंने एक अलग तरह की अनुवाद-पद्धति प्रचलित की जिसे वे को-इ (match the translation) कहते थे। खासकर कुमारजीव ने यह महसूस किया कि पहले मुख्य कथ्य (जो नया हो) अनुवाद के माध्यम से उधर पहुँचाया जाए, बाकी जो मिलती-जुलती अवधारणाएँ हो, शुरू में उन्हें सम्पादित कर लिया जाए, बाद में मैच कराया जाए कि कैसे ताओ धर्म का बू-सिद्धान्त बुद्ध की 'शून्यता' से मिलता है।

1.8 मध्येशियाई अनुवाद : एक बानगी

साहित्येतिहास न केवल सम्बद्धता का सृजन करता है, बल्कि इस प्रक्रिया में वह उसे वैधता भी देता है। दूसरे उपनिवेशों में पढ़ाए जाने वाले अंग्रेजी साहित्य की तरह मध्येशिया में भी अंग्रेजी 'बियोवूल्फ से वर्जीनिया वूल्फ' तक की एक अभंग धारा के भ्रामक चित्र खींचती रही और हाल-फिलहाल तक अरबी साहित्य ऐतिहासिक बिखराव और आलोचनात्मक डिस्टोपिया (स्वप्नभंग) के रूप में चित्रित होता रहा-लगातार की उठा-पटक का महाख्यान, नैतिक पतन का आगार चलता रहा। साहित्यिक आधुनिकता अनुवाद और अनुकरण-मूलक विवृतियों के कन्धे चढ़कर आई। तेरहवीं सदी के बगदाद से लेकर उन्नीसवीं सदी के बेरूत तक धार्मिक और राजनीतिक हलचलों का एक पूरा सिलसिला किस हद तक का पुनर्जागरण घटित कर सका–यह गहन गवेषणा का विषय है।

विश्वासघात (Treachery), जारजीकरण (Bastardisation), अपहरण (usurpation) आदि के रूप में अनुवाद के दोहरे सन्दर्भ यहाँ मूल्यांकित होते रहे। बाद के समय में ब्राजील का 'ऐण्ट्रोपोफोबिया' आन्दोलन, याज़ के 'ट्रांसक्रिएशन', बोर्वेज की 'थेयरी ऑफ मिसट्रांसलेशन' मिल जुलकर मध्येशिया की अन्तश्चेतना में भी यह तथ्य स्थापित कर गए कि पश्चिम से अनुवाद भी करना हो तो अपनी शर्तों पर; अनुवाद अनुकरण नहीं, सम्वाद है, 'मूल' पाठ डगमग और अथिर लोथड़ा होता है, माटी की लुगदी, जिससे नई मूर्तियाँ गढ़ी जा सकती हैं। अनुवाद, अनुवाद लगे, तभी सम्वाद हो पाएगा। अनुवाद आधुनिक प्रेम की तरह है -- 'खुदी' को मिटाए बिना भी आप से सजग सम्वाद कर सकते हैं। दो भाषाएँ, दो संस्कृतियाँ उसी तरह एक-दूसरे को प्रभावित और उत्साहित कर सकती हैं जैसे दो आधुनिक प्रेमी। इस पूरे एहसास की शुरुआत हम मुहम्मद लुफ्ती जुमाह के अनुवादों में देख सकते हैं।

सन् 1899 में गाइ नेवल बूथबाई ने एक *'इम्पीरियल गोथिक'* उपन्यास लिखा। उसका तर्जुमा अरबी में लुफ्ती साहब ने जिस तर्ज में किया–वह समय के सारे सामाजिक तनावों का प्रतिबिम्बन सुखद तैश में करता है। इसमें हम एशियाई अनुवाद की अधुनातन परम्परा का अग्रकथन (फोरग्राउण्डिंग) देख सकते हैं। 'नाहदवी' साहित्यिक इतिहास में लुफ्ती की चर्चा नहीं मिलती पर एक बनते हुए राष्ट्र की अस्तित्वगत चुनौतियाँ पुनर्लेखन, विस्तार और संक्षेपण की युक्तियों

से पगे इस सबवर्सिव (चिढ़ाऊ) अनुवाद की ताकत हैं। कहीं से यह ममीफिकेशन नहीं लगता और 'हाइब्रिडिटी' की भास्वर मशाल बनकर उभरता है। सामाजिक विकासवाद, क्रिमिनलॉजी, विघटन सिद्धान्त और भविष्यवादी विज्ञान एक अलग ही कलेवर में यहाँ प्रस्तुत हैं और इंग्लैण्ड का वह पक्ष भी पुरजोर भाषा में रेखांकित किया गया है, जिसे जॉर्ज बर्नार्ड शॉ 'एडवान्स स्टेट ऑफ रॉटननेस' कहते थे।

1.9 अनुवाद की एशियाई सैद्धान्तिकी

मार्क्स ने 'उत्पादन की एशियाई पद्धति' की बात की थी। हम एक 'एशियन मोड ऑफ ट्रान्सलेशन' की भी बात कर सकते हैं। यहाँ कोई भी पाठ किसी की निजी सम्पत्ति नहीं होता। रसायनशास्त्र में जो भूमिका 'फ्री रैडिकल्स' की होती है, इस परम्परा में मूल पाठ की भूमिका वही मानी जानी चाहिए। कोई भी पाठ यहाँ एक संयुक्त थाती है, एक साझी सम्पत्ति, जिसका उपयोग कोई किसी भी तरह से कर सकता है। यह साहित्यिक सम्पदा की ट्रस्टीशिप वाली अवधारणा है, जहाँ लेखक-अनुवादक के बीच की दूरी क्षीण है। जो पढ़े, ध्यानस्थ होकर पढ़े, पाठ उसी का, वह उसका जो भी करे। आत्म के विलय की यह विशद परम्परा 'कॉपीराइट' के जटिल अधिकारों से मुक्त पाई जाती है। भक्त कवि अपने पाठों में अपना नाम डालते थे तो आत्मप्रचार के लिए नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव का साक्ष्य रेखांकित करने के लिए।

बारहवीं सदी में आनन्दवर्धन 'ध्वनि' को इस नवीन पुर्गठन का आधार मानते हैं—पहले से कही गई बात भी ध्वनि-वक्रता से नई हो सकती है। 'अमरुशतक' भी 'पदार्थहरण' को उचित ठहराता हुआ पुरानी सामग्री के नवीन आरोहण या पुनर्संस्कार की दो पद्धतियाँ सुझाता है—'प्रतिबिम्ब कल्प' और 'आलेख्य कल्प।' जिसे अमरुक 'पदार्थहरण' कहते हैं, राजशेखर 'परपुरप्रवेश' या 'अन्यवाणीवन्दित' कहते हैं। दूसरे के पाठ का सर्जनात्मक पुनर्संस्कार सम्भव हो तो वह अन्ययोनि पाठ कहलाता है। जिन पाठों से अन्तःपाठीय सम्वाद सम्भव नहीं, वे 'अयोनि' पाठ हैं। यह योनि एक तरह का गुरुत्व केन्द्र या पाठ गाँठ (Aporia) ही है जो कई तरफ खुल सकता है और कई रूपों में ठहर सकता है—खण्ड रूप में, तेलबिन्दु की तरह सतह पर सर्वत्र व्याप्त, नट की पोशाक की तरह ऊपर से आरोपित (नटेन पट)।

वाल्टर बेंजामिन इसे अपने ढंग से पाठ में उत्तर-जीवन में भागीदारी मानते हैं और पाठ-ग्रहण में इतिहास का रेखांकन उनके लिए जरूरी है। विचारधारा-काव्यशास्त्र और विमर्श भाषा की जिन सतहों पर गले मिलते हैं या छिटककर अपनी विशिष्टता उजागर करते हैं, अनुवाद उनके प्रति सजग रहता है। कभी पुरानी भाषा की हड्डियाँ थक जाएँ तो अनुवाद के माध्यम से पास आई भाषा उन्हें नई ऊर्जा, नई भाषा देती है। ब्राजील वाले इसे ही 'कैनिबलाइजेशन' कहते हैं, किन्तु यहाँ इसका सकारात्मक अर्थ अभीप्सित है। बेंजामिन इसे हड्डियों में चाँदी का उचकुन लगाना कहते हैं; यह चाँदी का उचकुन इसलिए है कि यह विदेशीपन्थी दमकनी भी चाहिए। जब इसका परायापन सप्रयास दमके तब एक अलग ऊबड़-खाबड़ से वैशिष्ट्य-बोध के साथ रोलाँ बार्थ इसे 'उद्धरणों का ऊतक' कहते हैं।

दरअसल यह खुरदरापन ही वाणी का वैशिष्ट्य है। अब बहुत चिकने-चुपड़े, बने-ठने अनुवादों का युग बीत गया।

अच्छा अनुवाद अन्यता का संगीत आत्मसात करने में मदद करता है। वह हमारे 'पोलीसिस्टम' पर प्रभाव डालता हुआ हमारी भीतरी दीवारें भी ढाहता है। बन्द दरवाजे तो कहीं नहीं ले जाते। बचना है तो रचना है—अनुवाद पुनर्सर्जना का माध्यम बनेगा, होमी भामा इसी अर्थ में अनुवाद को सांस्कृतिक बचाव की रणनीति कहते हैं।

1.10 अनुवाद की बगदाद परम्परा

संगठित और सांस्थानिक रूप से अनुवाद करवाने की दिशा में बड़े पैमाने पर पहल करने का श्रेय अरब शासकों को दिया जाना चाहिए। उमायद वंशीय शासकों के शासन काल (सन् 661-750) में इसकी शुरुआत हुई। अब्बासीद वंशीय शासकों के शासन काल(सन् 750-1258) में इस उद्यम का विकास हुआ। अलममून (सन् 813-833) का शासनकाल इस बात के लिए स्वर्ण युग माना जाता है। इस पूरे प्रयास का केन्द्र बगदाद था, जिसका निर्माण अब्बासीद खलीफा अलमंसूर (सन् 754-75) ने करवाया था।

अनुवाद के प्रति ऐसी अपूर्व निष्ठा वहाँ उससे पहले नहीं देखी गई। अलमंसूर ने अनेक अनुवादकों की नियुक्ति की और एक ट्रान्सलेशन चैम्बर का निर्माण कराया। इसमें भारतीय ज्योतिष, खगोल विज्ञान, गणित आदि से सम्बन्धित रचनाओं के अनुवाद कराए गए। अरस्तू के 'नीतिशास्त्र' जैसी कृतियों के अनुवाद भी इस दौरान हुए। इस दौर के अनुवाद की तीन विशेषताएँ थीं–

1. इनकी स्रोत भाषाएँ अनेक थीं–संस्कृत, फारसी, ग्रीक, सीरियाई आदि।
2. विभिन्न ज्ञानानुशासनों के अनुवाद यहाँ होते थे–दर्शन, ज्योतिष, रसायन, चिकित्सा विज्ञान आदि।
3. ट्रान्सलेशन चैम्बर की स्थापना कर यहाँ सरकारी प्रयत्नों से अनुवाद होता था।

*(**स्रोत** - Routledge Encyclopedia of Translation Studies Ed. Mona Baker, 1998, P. 330)*

1.11 रामकथा के अनुवाद/आत्मसातीकरण

अनुवाद की एशियाई परम्परा में रामकथा के विभिन्न अनुवादों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अकबर के शासनकाल में अब्दुल कादिर बदायूँनी ने 'रामायण' का अनुवाद फारसी में किया, यद्यपि वह मनोयोग से किया गया अनुवाद नहीं था, शासकीय दबाव में अनमने ढंग से किया गया अनुवाद था। तुलसी कृत 'रामचरितमानस', कृतिवास रामायण(बांग्ला), कम्बन रामायण(तमिल), विलियम केरी द्वारा सन् 1802 में, तथा रमेश चन्द्र दत्त द्वारा सन् 1899 में किए गए अंग्रेजी अनुवाद, शेख सैदुल्ला मसीह कृत अनुवाद 'रामायण-ए-मसीह' का उल्लेख इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है।

एशियाई अनुवाद-सिद्धान्त का पश्चिमी अनुवाद इस आधारभूत तथ्य की पुनःप्रस्थापना है कि भाषा से भाषा की राह कभी बन्द नहीं होती।

1.12 सारांश

अनुवाद का काम मूल पाठ के मुर्दा अर्थों का केंचुल उतारना नहीं, बल्कि उन सूत्रों की पड़ताल करना होना चाहिए जो अर्थ गढ़ते हैं। पाठ के पार खड़ा होकर भाष्य करने के बजाए पाठ के विकास का मार्ग तलाशना चाहिए। पाठ के गूढ़, सूक्ष्म ध्वन्यार्थ और मूल रचनाकार के मर्म की समझ बनाते हुए, उसका विश्लेषण करते हुए अनुवाद का कार्य दोहरा हो जाता है।

हर संस्कृति एक कहानी सुनाती है। विज्ञापन और 'नैरेशन' इसका माध्यम है। किसी राष्ट्र को लगे कि उसकी सांस्कृतिक गरिमा विदेशों में मान्यता पा रही है, उसे वह अलग तरह की मान्यता देने लगता है। अनुवाद नए रूप में कहानी सुनाने का एक सजग माध्यम है। यह विश्वग्राम की सहज और अनवरत प्रक्रिया है। अनुवाद के दौरान भाषा नए यथार्थ गढ़ती है, और दो भाषाओं की अन्तरंगता में नए गवाक्ष खुलते हैं। ऑक्टोविया पाज़ ने अपनी एक बातचीत में कहा– कल्पना करें कि चीनियों ने संस्कृत पाठों का, यहूदियों ने ग्रीक पाठों का (एलेक्जेण्ड्रियन में) या फिर रोमनों ने ग्रीक पाठों का अनुवाद कैसे किया। विभिन्न सभ्यताओं का इतिहास दरअसल उनके अनुवाद का इतिहास है। हर संस्कृति की आत्मा अनूठी है। अनुवाद अन्यता से सम्वाद का सबसे कारगर तरीका है।

आज जिसे 'अंतः पाठीय प्रयाण' (intertextual departures) के रूप में उत्तर-औपनिवेशिक अनुवाद अध्येता पूरी दुनिया में मान्यता दिला गए हैं, एशिया की अनुवाद-परम्परा का सार वही है। 'रामायण', 'महाभारत', 'वृहत्कथामंजरी', 'पंचतन्त्र', 'जातक कथाएँ' आदि के जितने संस्करण प्रचलित हैं, उनके मुक्त अनुवादों को मान्यता दिलाने में भी इन विद्वानों की बड़ी भूमिका है। अनुवाद को अगम-अगोचर भाव से देखने के बजाए अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की गठरी साथ लिए, भाषिक राजनीति का भाष्य करते हुए भाषा-प्रबन्धक का काम निभाना है। अनुवाद की एशियाई परम्परा के संज्ञान से हमें बड़ी सीख मिलती है।

1.13 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. भारत की भाषिक अवधारणा पर एक टिप्पणी करते हुए पश्चिमी अनुवाद-शास्त्र के विकास में इसकी भूमिका बताएँ।
2. संस्कृत की अनुवाद-परम्परा पर एक टिप्पणी करें।
3. बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के बारे में क्या जानते हैं?
4. भारतीय भाषाओं के पारस्परिक अनुवाद पर एक टिप्पणी करें।
5. मुगलकाल के शास्त्रीय अनुवादों पर एक नोट लिखें।
6. औपनिवेशिक भारत में अनुवाद का जो महाभियान चला, उसकी समीक्षा करें।
7. चीन, जापान, बगदाद, और इजराइल की अनुवाद-परम्परा पर दृष्टिपात करते हुए पश्चिमी अनुवाद-सिद्धान्तों से उनकी तुलना करें।

1.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- नगेन्द्र, (सं.), *अनुवाद विज्ञान,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय।
- तिवारी, भोलानाथ, *अनुवाद विज्ञान,* दिल्ली, शब्दकार।
- पालीवाल, रीतारानी, *अनुवाद की सामाजिक भूमिका,* दिल्ली, सचिन प्रकाशन।
- वधान, अमर सिंह, *अनुवाद और संस्कृति,* अहमदाबाद, त्रिवार्ण प्रकाशन।
- सिंहल, ओमप्रकाश, *अनुवाद से संवाद,* अहमदाबाद, अवनी प्रकाशन।
- J.C. Catford, *Linguistic Theory of Translation.*
- George Steiner, *After Babel: Aspects of Language & Translation*, OUP, New York & London, 1975.
- Peter Newmark, *Approaches to Translation,* 1981.
- Sujit Mukherjee, *Translation as Discovery*, Orient Longman, Hyderabad, 1994.
- Tejswini Niranjana, *Sitting Translation.*, Hyderabad, Orient Longman.
- R. Raghunath Rao, *The Art of Translation,* Delhi, Bhartiya Anuvad Parishad.
- Susan Bassnett & Ande Lefvere, *Translation/History/Culture,* Publishers, London, 1990.
- Susan Bassnett, *Translation Studies.*, Routledge, London & New York, 1988.
- Anuradha Dinwaney & Carol Maier, (Ed.), *Between Languages & Culture (Translation and Cross.Culture Texts)*, OUP, Delhi, 1996.
- Spivak, Gayatri Chakraborty, *The Politics of Translation,* Routledge, London & New York, 1992/2000.
- Hardwick, Lorna, and St. Jerome, *Translating Words, Translating Culture*, Pub. Co., 2000.
- Moore, N. Cornelia and Lower, Lucy, *Translation East and West: A Cross. Cultural Approach*, University of Hawaii and East-West Centre.

इकाई 2 अनुवाद की भारतीय परम्परा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 अनुवाद परम्परा के आदिम सूत्र

2.3 भारतीय अनुवाद परम्परा की प्राचीनता

2.4 भारत में अनुवाद परम्परा के विभिन्न सोपान

2.5 मुगलकालीन अनुवाद परम्परा

2.6 उपनिवेशकालीन भारतीय अनुवाद की परम्परा

2.7 उपनिवेशकालीन भारतीय अनुवाद की परम्परा के राष्ट्रवादी स्वरूप

2.8 भारत में अनुवाद की परम्परा एवं विस्तृत उपयोग

2.9 स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय अनुवाद की दिशा-दशा

2.10 अनुवाद : विज्ञान या कला

2.11 ज्ञान फलक का विस्तार और अनुवाद

2.12 आधुनिक काल में अनुवाद का फलक विस्तार

2.13 सारांश

2.14 अभ्यास के लिए प्रश्न

2.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

अनुवाद अध्ययन में एम.ए. पाठ्यक्रम की यह दूसरी इकाई है। पहली इकाई में आपने अनुवाद की एशियाई परम्परा के विविध पक्षों की जानकारी हासिल की। यह इकाई भारत में अनुवाद की परम्परा से सम्बन्धित है। इस इकाई को पढ़ने से अनुवाद अध्ययन में एम.ए. करने वाले शिक्षार्थियों को अनुवाद की भारतीय परम्परा की संक्षिप्त जानकारी मिलेगी। इस पाठ को पढ़ते हुए आप जान सकेंगे कि :

- अनुवाद कर्म का भारतीय नागरिकों के जीवन में क्या महत्त्व रहा है?
- अनुवाद की भारतीय परम्परा कितनी प्राचीन और भव्य है?
- भारतवर्ष में अनुवाद के सोपान कैसे-कैसे बदले हैं?
- अनुवाद करने की भारतीय विधियाँ किस तरह संचालित थीं?
- हजारों वर्ष प्राचीन अनुवाद की भारतीय संस्कृति में कैसे-कैसे मोड़ आए?
- अनुकथन से लेकर आज तक के अनुवाद की विकासमान परम्परा में कितने रोचक काम हुए हैं?

2.1 प्रस्तावना

अनुवाद का अर्थ अनुकथन भी है, अर्थात कही हुई बात को फिर से कहना। इस अर्थ में प्रारम्भिक समय में गुरुकुल में गुरुजनों द्वारा मूल पाठ की व्याख्या, अन्वय, या कण्ठस्थ कराने हेतु एक ही पाठ की पुनरावृत्ति को भी अनुवाद ही कहा जाएगा। इधर आकर अनुवाद का अर्थ थोड़ा रूढ़ हुआ है। सामान्यतया एक भाषा के पाठ को दूसरी भाषा में कहने अथवा लिखने के कार्य को अनुवाद कहा जा रहा है।

पर थोड़ा पीछे जाएँ, तो अनुवाद का एक विराट रूप हमारे सामने आता है। वस्तुतः हमारा मौलिक वक्तव्य या लेखन भी हमारे अनुभव, विचार अथवा प्रेक्षण परिणति का अनुवाद है। किसी शिल्पी की मूर्तियाँ, चित्रकार के कैनवस, रचनाकार की कृतियाँ, फिल्मकार की फिल्में, रंगकर्मी का रंगकर्म ... सब के सब अपने पूर्व के पाठ, विचार, या अनुभव की अनुकृतियाँ ही होती हैं, जिनमें कथ्य की विधा बदल दी जाती है।

2.2 अनुवाद परम्परा के आदिम सूत्र

अनुवाद कार्य के व्याख्याकारों ने बीसवीं सदी को अनुवाद का युग कहा है। तर्क प्रायः यह रहा हो कि उक्त अवधि में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की पुस्तकों का विपुल मात्रा में अनुवाद हुआ और व्यापक स्तर पर दुनिया की विभिन्न भाषा-संस्कृति-ज्ञान सम्पदा से परिचय के कारण दुनिया की कई भाषाओं में नई-नई विधाओं का सृजन-पुनर्सृजन हुआ।

कुछ विद्वान ईसा पूर्व तीन हजार के प्राचीन मिस्र के द्विभाषी शिलालेखों, ईसा पूर्व तीन सौ में ग्रीक लोगों के सम्पर्क में रोमन लोगों के आने पर ग्रीक से लैटिन अनुवाद, बारहवीं शताब्दी में स्पेन में इस्लाम के सम्पर्क से अरबी से यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद का उदाहरण देते हुए अनुवाद की परम्परा ढूँढते हैं।

तथ्य है कि ईसा पूर्व तीन हजार के आसपास असीरिया के राजा सरगोन ने अपनी विजय घोषणा का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में करवाया।

ईसा पूर्व इक्कीस सौ के आसपास सम्राट हम्मूरावी सरकारी आदेशों का अनुवाद कई भाषाओं में करवाते थे।

ईसा पूर्व चार-पाँच सौ के आसपास यहूदी लोग हिब्रू भाषा के प्रवचनों का अनुवाद द्विभाषिए के सहयोग से आर्मेइक भाषा में करवाते थे और फिर उस तथ्य को समझते थे।

तथ्य है कि यूनानी गौरव-ग्रन्थों का अनुवाद पुनर्जागरण काल में विपुल मात्रा में हुआ। फ्रांस में सोलहवीं सदी में ही एतीने दोले (Etienne Dolet) जैसे अनुवाद चिन्तक ने इस क्षेत्र में अभूतपूर्व काम किया।

नौवीं से सोलहवीं सदी के बीच इंग्लैण्ड में अनुवाद की व्यवस्थित परम्परा बन गई।

2.3 भारतीय अनुवाद परम्परा की प्राचीनता

विद्वानों की राय में अनुवाद चिन्तन की प्राचीन परम्परा भारत में अनुपलब्ध बताई जाती है। पर सचाई है कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारत प्राचीन काल में संसार का सिरमौर था। दुनिया भर में उपलब्ध ज्ञान की सभी शाखाओं की नई जानकारियों का अनुवाद करने के बजाय भारत के चिन्तक उन्हें आत्मसात कर मौलिक पद्धति से भारतीय संस्कार के साथ प्रस्तुत करना बेहतर समझते थे।

प्राचीन काल में भारतीय चिन्तकों की जीवन पद्धति पाश्चात्य विद्वानों की तरह अपने करतबों के व्यवस्थित सैद्धान्तीकरण की नहीं थी।

जिन उदाहरणों से पश्चिमी अनुवाद-चिन्तन की परम्परा को सुव्यवस्थित बताया जा रहा है, वैसे अनुवाद हमारे यहाँ वेद की रचना के तत्काल बाद से हो रहे हैं। ब्राह्मण, आरण्यक, निघण्टु और निरुक्त उसी के उदाहरण हैं।

सच है कि जिस तरह भारत के ग्रन्थों का अनुवाद अरब अथवा चीन अथवा अन्य जगह के लोगों ने किया, भारत के लोगों ने उस काल में दूसरे देशों के ग्रन्थों का अनुवाद नहीं किया। यहाँ अपनी भाषा पद्धति में ही इतनी तब्दीली आती गई कि अपने ही ग्रन्थों के अनुवाद और व्याख्या की आवश्यकता होने लगी। निघण्टु और निरुक्त के अलावा बाद के दिनों में जब लौकिक संस्कृत का चलन हुआ, तब ऋषि मुनि अपने शिष्यों को शिक्षा देते समय प्राचीन ग्रन्थों की जिस तरह व्याख्या करते थे, उसे भी अनुवाद की दृष्टि से देखा जाना चाहिए, जिसमें एक तरफ तो पद्य की गद्यात्मक व्याख्या थी, दूसरी तरफ उसके सरलार्थ थे। ऐसा समझा जाना चाहिए कि आधुनिक काल में भाषा-टीका ग्रन्थ का सूत्र वहीं से मिला होगा।

संस्कृत नाटकों में नायक का सम्वाद संस्कृत में होता था, जबकि स्त्री और सेवक का प्राकृत में। वार्तालाप और कथोपकथन के दौरान समझ की जमीन तो अनुवाद पर ही आधारित रहती होगी।

2.4 भारत में अनुवाद परम्परा के विभिन्न सोपान

आगे चलकर हम देखते हैं कि गुणाढ्य की प्रसिद्ध कृति बड्डकहा के संस्कृत में विभिन्न अनुवाद हुए। और फिर तो सारानुवाद, भावानुवाद, छायानुवाद, टीका, व्याख्या आदि की शृंखला चल पड़ी।

लोग कहते आ रहे हैं कि धर्म, दर्शन, साहित्य की कृतियों की समझ बनाने के लिए अनुवाद की मूल आवश्यकता हुई। आंशिक रूप से यह सच भी हो सकता है, लेकिन यह प्राथमिक आवश्यकता नहीं थी।

उत्तरवैदिक काल के आरम्भ में जब विभिन्न जनपदों का स्वरूप स्थिर होने लगा था, उन दिनों आर्यीकरण के माध्यम से राज्यों के सीमा विस्तार की प्रवृत्ति विकसित हुई। समाज कृषि-विकास से वाणिज्य-विकास की ओर बढ़ चला। जलमार्ग तथा थलमार्ग से श्रेष्ठियों के सार्थ कैकेय से श्रावस्ती होते हुए चम्पा और राजगृह तक वाणिज्य के लिए यात्रा करते थे। इस क्रम में हर पड़ाव पर उन्हें आदान-प्रदान के लिए दुभाषिए की आवश्यकता होती थी। उनके हर पड़ाव से कम से कम एक सहयोगी अगले पड़ाव तक जाता था। जो उन्हें थोड़ी-सी तब्दीली के साथ वहाँ के भाषा-व्यवहार का परिचय देता था और श्रेष्ठिजन क्रमशः उनके भाषा-उपक्रम से परिचित होते जाते थे।

इन साक्ष्यों के मद्देनजर हम कह सकते हैं कि यदि हिब्रू के प्रवचनों के आर्मेइक में पुर्नकथन अथवा असीरिया के राजा सरगोन की विजय-घोषणा को अनुवाद की प्राचीन परम्परा कहना उचित है, तो भारत में हुए इन कार्यों को भी अनुवाद की प्राचीन परम्परा का सूत्र माना जाना चाहिए।

भारत में वेद को श्रुति भी कहा जाता है। श्रुति परम्परा का सीधा सम्बन्ध लोक कथा, लोकगाथा, लोकगीत और लोक-नृत्य से भी है। श्रुति परम्परा में अनुकथन पद्धति अपने सभी उपादानों के साथ शामिल है। जाहिर है कि वेद की ऋचाएँ जब कही या गाई जाती होंगी, अथवा लोक-कथाएँ जब सुनाई जाती होंगी, तब श्रोताओं-भावकों के लिए सम्प्रेषण बाधा दूर करने हेतु टीकाएँ भी होती होंगी। वैदिक आचार्य निश्चय ही अपने शिष्यों को ऋचाएँ समझाने के लिए उसकी टीका करते होंगे। इस आधार पर यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि भारत में अनुवाद की परम्परा उतनी पुरानी तो अवश्य ही है, जितनी वैदिक परम्परा, लोक परम्परा और सम्वाद परम्परा। सम्प्रेषण की स्पष्टता सुनिश्चित करने के लिए एक बात का कई बार, कई तरीके से, विभिन्न शब्दावलियों में कहा जाना भी अनुकथन ही है।

भारत में टीका, व्याख्या, अनुवाद का नैरन्तर्य सदा बना रहा। भारत को जानने के लिए *वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत* आदि के अनुवाद दूसरे देशों के लोग तो कर ही रहे थे, उनके अनुकथन और भी कई रूपों में हो रहे थे।

अकेले रामायण का अनुवाद भारत की कई भाषाओं में हुआ, और आज की तारीख में वे सब अपनी-अपनी भाषा के महान ग्रन्थ माने जाते हैं। पुराकथाओं को आधार बनाकर विभिन्न भारतीय भाषाओं में बेहिसाब रचनाएँ की गई हैं।

भारत में अनुवाद का बहुरंगी इतिहास रहा है। प्रारम्भिक अनुवादों को देखकर प्रतीत होता है कि संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा उभरती हुई क्षेत्रीय भाषाओं के मध्य, उन्हीं भाषाओं में परस्पर, उनसे अरबी और फारसी के बीच अनुवाद हुआ।

आठवीं से नौवीं शताब्दी के बीच भारतीय कथ्य और ज्ञानाधारित पाठों जैसे *पंचतन्त्र, अष्टांगहृदय, अर्थशास्त्र, हितोपदेश, योगसूत्र, रामायण, महाभारत* और *भगवद्गीता* का अनुवाद अरबी में हुआ।

उन दिनों भारतीय और फारसी साहित्य पाठों के बीच भी व्यापक स्तर पर आदान-प्रदान हुआ।

भक्तिकाल के दौरान संस्कृत पाठ विशेष रूप से भगवद्गीता और उपनिषद् अन्य भारतीय भाषाओं के सम्पर्क में आए, फलस्वरूप महत्त्वपूर्ण भाष्यों की रचना हुई।

मराठी सन्त कवि ज्ञानेश्वर द्वारा *गीता* का अनुवाद *ज्ञानेश्वरी* तथा महाकाव्यों के विभिन्न अनुवाद, विशेष रूप से विभिन्न भाषाओं के सन्त कवियों द्वारा *रामायण* और *महाभारत* के अनुवाद प्रकाश में आए।

पम्पा, कम्बन, मौला, इजूथाचन, तुलसीदास, प्रेमानन्द, एकनाथ, बलरामदास, माधव कन्दली, और कृतिवास आदि द्वारा किए गए रामायण के रूपान्तरण इसके उदाहरण हैं।

2.5 मुगलकालीन अनुवाद परम्परा

मुगल शासन के दौरान शिक्षा के प्रचार-प्रसार के विपुल कार्य हुए, उनमें अनुवाद-कर्म की अहम भूमिका थी। उस दौरान मस्जिदों में 'मकतब' की व्यवस्था होती थी, जिसमें लड़के-लड़कियाँ प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करते थे।

मुगल शासन-काल के लम्बे अन्तराल में इस दिशा में पर्याप्त काम हुए। बाबर के समय में एक विभाग 'शुहरते आम' होता था, जो स्कूल-कॉलेजों का निर्माण करवाता था। जाहिर है कि इसमें अनुकथन-वृत्ति की विलक्षण भूमिका थी। हुमायूँ ज्योतिष एवं भूगोल के ज्ञाता थे। उन्होंने दिल्ली के पुराने किले के 'शेर मण्डल' नाम के हॉल में अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय की स्थापना की थी। उन्हें पुस्तकों में बड़ी रुचि थी। वे सदैव अपने साथ चुनिन्दा पुस्तकों का जखीरा लेकर चलते थे। ईरान से हुमायूँ के भारत वापस आने के बाद बड़ी संख्या में ईरानी प्रवासी भारत आए, उन्हें भारत में उपयुक्त साहित्यिक वातावरण मिला, जो उन्हें ईरान में उपलब्ध नहीं था। उन्होंने भारतीय साहित्यिक मनीषियों के साथ अलग से एक भारतीय शैली सबक-ए-हिन्दी विकसित की।

इस दिशा में अकबर द्वारा किया गया प्रयास और भी स्मरणीय है। गुजरात जीतने के बाद अकबर ने अपने पुस्तकालय को दुर्लभ ग्रन्थों से भर दिया। उन्होंने एक अनुवाद विभाग की स्थापना की। अकबर के पुस्तकालय को उस काल तक का अद्वितीय पुस्तकालय कहा जाता था। अकबर ने फतेहपुर सीकरी, आगरा एवं अन्य अनेक स्थानों पर अनेक खानकाह (आश्रम) एवं मदरसों (पाठशाला) की स्थापना की।

अकबर की उपमाता माहम अनगा ने दिल्ली में 'खैरूल मनाजित' नाम से एक मदरसा स्थापित किया था। फतेहपुर सीकरी मुस्लिम शिक्षा का मुख्य केन्द्र था। अकबर के समय फतेहपुर सीकरी में अब्दुल कादिर शेख, फैजी, निजामुद्दीन जैसे विद्वान रहते थे। अकबर का शासन काल भारत में फारसी साहित्य के पुर्नजागरण का काल था। *आइना-ए-अकबरी* में अकबर के राजदरबार के उनसठ महान फारसी कवियों के नाम मिलते हैं। अकबर का राजकवि अबुल फैजी, अमीर खुसरो से लेकर मुगल युग तक के भारतीय फारसी साहित्य के महानतम कवि थे। अब्बास खान सरवानी ने अकबर के आदेश पर *तोहफा-ए-अकबरशाही* की रचना की थी। इस पुस्तक में शेरशाह सूरी के कार्यकलापों को उजागर करने की भरपूर कोशिश की गई है। इन समस्त उपक्रमों में अनुवाद एक प्रबल तत्व के रूप में शामिल था।

जहाँगीर को फारसी एवं तुर्की भाषा का अच्छा खासा ज्ञान था।

शाहजहाँ ने दिल्ली में एक कॉलेज का निर्माण करवाया और दारुल बका नामक कॉलेज की मरम्मत करवाई।

दाराशिकोह (20 मार्च,1615) और उनके गुरु पण्डितराज जगन्नाथ का इस दिशा में अप्रतिम योगदान है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *मजमा-उल-बहरीन*—अर्थात *सागर संगम* को दारा ने हिन्दू एवं इस्लाम के विचारों का सार तत्त्व कहा।

सूफी सन्तों के जीवनचरित्र पर लिखी हुई दारा की पुस्तकें हैं—*सफीनात अल औलिया* (विभिन्न परम्पराओं के सूफियों के जीवनवृत्त) और *सकीनात अल औलिया* (भारत में कादिरी परम्परा के सूफियों का जीवन वृत्तान्त)। *रिसाला ए हकनुमा*

(सन् 1646) और *तरीकन-उल-हकीकत* (आध्यात्मिक मार्ग के विभिन्न चरण) में सूफीवाद का दार्शनिक विवेचन है। *अक्सीर ए आजम* शीर्षक उनके कविता-संग्रह से उनकी सर्वेश्वरवादी प्रवृत्ति का बोध होता है। *हसनात अल आरिफीन* (विभिन्न मतों के सन्तों की वाणी का संकलन), *रिसाला-ए-हमनुमा* (सूफी प्रथाओं का वर्णन) और *मुकालम ए बाबालाल ओ दाराशिकोह* में धर्म और वैराग्य का विवेचन हुआ है। इन तमाम ग्रन्थों में अनुवाद वृत्ति की बड़ी भूमिका है।

मजमा-उल-बहरीन में वेदान्त और सूफीवाद के शास्त्रीय शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दाराशिकोह ने *श्रीमद्भगवदगीता, योगवशिष्ठ, उपनिषद* एवं *रामायण* का अनुवाद फारसी में करवाया। उन्होंने स्वयं तथा काशी के कुछ संस्कृत पण्डितों की सहायता से बावन उपनिषदों का *सीर-ए-अकबर* (महान रहस्य) नाम से फारसी में अनुवाद कराया। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कृत्य वेदों का संकलन है।

उन्हें धर्मद्रोही करार दिए जाने का मुख्य कारण उनकी सर्व-धर्म-सम्मिश्रण की प्रवृत्ति ही थी जिसका सीधा सम्बन्ध उनके भाषा-ज्ञान और अनुवाद कर्म से जुड़ा था।

मुगल काल में राजकुमारियाँ, रानियाँ एवं उच्च घरानों की लड़कियाँ भी शिक्षा में आगे रहती थीं--गुलबदन बेगम (बाबर की बेटी), फारसी कवयित्री सलीमा सुल्तान (हुमायूँ की भतीजी), नूरजहाँ, मुमताज महल, जहाँआरा, जेबुन्निसा, दुर्गावती, चाँद बीबी के नाम उनमें स्मरणीय हैं। अकबर की माँ ने पुराने किले में खेर-दल-मंजिल नामक मदरसे की स्थापना करवाई थी।

आगरा, फतेहपुर सीकरी, दिल्ली, गुजरात, लाहौर, सियालकोट, जौनपुर, अजमेर आदि स्थान मुगलकाल में शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। मुगल शासकों की राजकीय भाषा फारसी थी। इसलिए फारसी साहित्य उस समय समृद्ध था। किन्तु फारसी के अतिरिक्त हिन्दी, संस्कृत, उर्दू का भी मुगल काल में पर्याप्त विकास हुआ। बहुभाषिकता का यह स्वरूप भाषाई आदन-प्रदान का महत्त्वपूर्ण संकेत देता है।

मुगलकालीन प्रमुख फारसी साहित्य में बाबर द्वारा तुर्की भाषा में लिखी गई कृति *बाबरनामा* (तुजुके बाबरी) चर्चित कृति है। अब्दुर्रहीम खानखाना द्वारा इसका अनुवाद सन् 1583 में अकबर ने करवाया। यह पुस्तक सन् 1504 से 1529 तक की भारत की राजनीतिक एवं प्राकृतिक स्थिति का विवरण है।

हुमायूँ की शाही फौज में कमाण्डर मिर्जा हैदर दोगलत द्वारा रचित कृति *तारीख-ए-रशीदी* मध्य एशिया में तुर्कों के इतिहास तथा हुमायूँ के शासन काल का विवरण है। सन् 1534 में ख्वान्दमीर द्वारा रचित पुस्तक *कानूने हुमायूँनी* में हुमायूँ की चापलूसी में उन्हें *'सिकन्दर-ए-आजम', 'खुदा का साया'* जैसी उपाधियाँ देने का वर्णन है। गुलबदन बेगम द्वारा लिखी गई पुस्तक *हुमायूँनामा* के एक भाग में बाबर का इतिहास तथा दूसरे में हुमायूँ के इतिहास का उल्लेख है। तत्कालीन सामाजिक स्थिति की भी इसमें प्रमुखता से चर्चा की गई है। सन् 1536-1537 में जौहर आपताबची द्वारा रचित पुस्तक तजकिरातुल वाकयात में हुमायूँ के जीवन के उतार-चढ़ाव का उल्लेख है। रिजकुल्लाह मुश्ताकी द्वारा रचित पुस्तक वाकयात-ए-मुश्ताकी में लोदी एवं सूर काल के विषय में जानकारी दी गई है। अकबर के निर्देश पर अब्बास खाँ सरवानी द्वारा लिखी गई और अकबर को समर्पित पुस्तक तोह*फा-ए-अकबरशाही* शेरशाह के विषय में है। अहमद यादगार द्वारा रचित पुस्तक *तारीख-ए-शाही* बहलोल लोदी के काल से हेमू की मृत्यु तक का विवरण है।

अकबर ने अपने दरबारियों को हुक्म दिया था कि वे हुमायूँ के बारे में जो कुछ जानते हैं, लिखें। उसी आदेश पर उनके रसोई प्रबन्धक बायर्जाद बयात ने *तजकिरा-ए-हुमायूँ व अकबर* लिखा। सन् 1565 से 1575 तक की स्थिति के विवरण के साथ मीर अलाउद्दौला कजवीनी द्वारा लिखित *नफाइस-उल-मासिर* अकबर के समय की पहली ऐतिहासिक पुस्तक है। नौ भागों में विभाजित निजामुद्दीन अहमद की कृति *तारीख-ए-अकबरी* के प्रथम दो भागों में मुगलों के इतिहास का उल्लेख है तथा शेष भाग दक्कन, मालवा, गुजरात, बंगाल, जौनपुर, कश्मीर, सिन्ध एवं मुल्तान की स्थिति का विवरण है। अबुल फजल की रचना *इंशा अकबर* द्वारा विदेशी शासकों को भेजे गए शाही पत्रों का संकलन है। यह कृति ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

अब्दुल कादिर बदायूँनी की कृति *'मुन्तखब-उत-तवारीख'* को हिन्दुस्तान के आम इतिहास के रूप में देखा जाता है, इसकी रचना सन् 1590 में हुई। यह कृति तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भाग *'तबकाते-अकबरी'* का संक्षिप्त रूप माना जाता है, दूसरे भाग में सुबुक्तगीन से हुमायूँ की मृत्यु तक की स्थिति का उल्लेख है तथा तीसरे भाग में सूफियों, शायरों एवं विद्वानों की जीवनियों की चर्चा है। गौरतलब है कि बदायूँनी, अकबर की उदार धार्मिक नीतियों के कट्टर विरोधी थे और अकबर द्वारा लागू की गई उनकी हर नीति को इस्लाम धर्म के विरुद्ध साजिश समझते थे। *तुजुक-ए-जहाँगीरी* पुस्तक का लेखन जहाँगीर ने शुरू किया। उन्होंने अपने शासन के सोलहवें वर्ष तक लिखा। उसके बाद के उन्नीस वर्षों का इतिहास मौतमिद खाँ ने अपने नाम से लिखा। अन्तिम रूप से इस पुस्तक को पूरा करने का श्रेय मुहम्मद हादी को प्राप्त हुआ। इसमें जहाँगीर के शासन के उतार-चढ़ाव तथा शासन सम्बन्धी कानूनों का उल्लेख है।

मौतमिद खाँ बख्शी की रचना *इकबालनामा-ए-जहाँगीरी* में जहाँगीर के शासन काल के उन्नीसवें वर्ष के बाद की जानकारी है। मुगल शासन में *पादशाहनामा* नाम से कई पुस्तकें रची गईं। शाहजहाँ के समय के प्रथम इतिहासकार मोहम्मद अमीन कजवीनी की *पादशाहनामा* में शाहजहाँ के शासन काल के प्रारम्भिक दस वर्षों का उल्लेख है। यह कृति शाहजहाँ के शासन काल के आठवें वर्ष से बीसवें वर्ष तक में लिखी गई। अब्दुल हमीद लाहौरी की *पादशाहनामा* में शाहजहाँ के शासन के बीस वर्षों के इतिहास का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दस्तावेज है। मोहम्मद वारिस की *पादशाहनामा* शाहजहाँ के शासन के इक्कीसवें वर्ष में आरम्भ होकर तीसवें वर्ष में खत्म हुई है। मोहम्मद सालेह की कृति *अमल-ए-सालेह* में शाहजहाँ के अन्तिम दो वर्षों का इतिहास है। सादिक खाँ की रचना *तारीख-ए-शाहजहाँनी* में शाहजहाँकालीन शासन के हालातों एवं अफसरों के बारे में जानकारी है। चन्द्रभान की रचना *चहारचमन* में शाहजहाँ की शासन प्रणाली और कार्य प्रणाली का जिक्र है।

इनायत खाँ की कृति *शाहजहाँनामा* और *आलमगीरनामा* तथा काजिम शीराजी की कृति *आलमगीरनामा* औरंगजेब के शासन काल के प्रारम्भिक दस वर्षों के इतिहास की जानकारी देती है। इन महत्त्वपूर्ण कृतियों में कीमतें बढ़ने, खेती की हालत बिगड़ने का भी उल्लेख है। काजिम शिराजी, औरंगजेब के सरकारी इतिहासकार थे। आकिल खाँ की कृति *वाकयात-ए-आलमगीरी* में औरंगजेब के राज्यारोहण के समय हुई लड़ाइयों का विस्तार से उल्लेख है। सुजान राय भण्डारी की रचना *'खुलासत-उत-तवारीख'* में औरंगजेबकालीन आर्थिक स्थिति, राज्यों की भौगोलिक सीमाओं एवं व्यापारिक मार्गों की चर्चा है। खफी खाँ की रचना *'मुन्तखब-उल-लुबाब'* औरंगजेब के शासन काल का आलोचनात्मक विवरण है। ईश्वरदास नागर की पुस्तक *'फतुहात-ए-आलमगीरी'* औरंगजेब के चौंतीस वर्षों के शासन काल का विवरण है। भीमसेन कायस्थ की पुस्तक *'नुस्खा-ए-दिलकुशा'* में औरंगजेब के समय का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विवरण है।

साकी मुस्तैद खाँ की रचना *'मासिर-ए-आलमगीरी'* औरंगजेब के शासन काल के ग्यारहवें से बीसवें वर्ष तक की स्थिति का विवरण है। जदुनाथ सरकार ने इसे 'मुगल राज्य का गजेटियर' कहा है। औरंगजेब के आदेश से धर्माचार्यों के एक समूह द्वारा तैयार की गई पुस्तक मुस्लिम कानूनों का प्रामाणिक एवं विस्तृत सार संग्रह फतवा-ए-आलमगीरी के नाम से जाना जाता है। और इसके साथ-साथ दाराशिकोह की रचना *'मजमा-उल-बहरीन'* (दो महासागरों का मिलन) तो है ही, जिसमें हिन्दू और इस्लाम धर्म को एक ही लक्ष्य के दो मार्ग बताया गया है।

कम ही सही, पर मुगल काल में संस्कृत में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई। अकबर के समय में संस्कृत में लिखी गई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं--*अकबरकालीन इतिहास* (महेश ठाकुर), *अकबरशाही शृंगार-दर्पण* (पद्म सुन्दर), *भानुचन्द्र चरित्र* (जैन आचार्य सिद्ध चन्द्र उपाध्याय), *हीरा सुभाग्यम, कृपा कोश* (देव विमल) आदि। *पारसी प्रकाश* नामक प्रथम संस्कृत-फारसी शब्दकोश की रचना भी अकबर के समय में ही हुई। शाहजहाँ के समय में कवीन्द्र आचार्य सरस्वती एवं पण्डितराज जगन्नाथ को दरबार में आश्रय मिला हुआ था। पण्डितराज जगन्नाथ ने *रसगंगाधर* एवं *गंगालहरी* की रचना की।

अलंकार शास्त्रपरक ग्रन्थ *चित्र मीमांसा खण्डन* एवं नूरजहाँ के भाई आसफ खाँ की स्तुतिपरक ग्रन्थ *आसफ विजय* के रचयिता जगन्नाथ को जहाँगीर ने पण्डितराज की उपाधि से सम्मानित भी किया। चतुर्भुज रचित *रसकल्पद्रुम*

औरंगजेब के चाचा शाइस्ता खाँ को समर्पित है। इन समस्त कृतियों की मौजूदगी से उस दौर की लेखकीय क्रियाशीलता, अनुवाद कर्म के महत्त्व, और लेखन एवं अनुवाद के प्रति राजकीय सदाशयता का संकेत मिलता है। प्रथम संस्कृत-फारसी शब्दकोश *पारसी प्रकाश* की रचना तो स्पष्टतः प्रमाणित करता है कि संस्कृत से फारसी में अनुवाद की गतिविधियाँ बहुत पहले से चल रही होंगी।

सचाई है कि बाबर, हुमायूँ और शेरशाह के समय में हिन्दी को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं था, पर व्यक्तिगत प्रयासों से *पद्मावत* जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना हुई। मुगल सम्राट अकबर ने हिन्दी साहित्य को संरक्षण दिया। प्रसिद्ध कवि बीरबल, मानसिंह, भगवानदास, नरहरि, हरिनाथ आदि के सम्बन्ध मुगल दरबार से बने हुए थे। निजी उद्यमों से– नन्ददास, विट्ठलदास, परमानन्द दास, कुम्भन दास आदि हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर रहे थे। तुलसीदास एवं सूरदास मुगलकाल के दो ऐसे विद्वान थे, जिन्होंने अनूदित और मौलिक ग्रन्थ के बीच अनिर्णय की स्थिति खड़ी कर दी। उन्होंने लोक और शास्त्र में मौजूद प्रसंगों को आत्मसात कर अपने ग्रन्थों की रचना की। अब्दुर्रहीम खानखाना और रसखान भी उसी कोटि की रचनाओं के कारण याद किए जाते हैं। इन समस्त अवदानों के कारण ही 'अकबर के काल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण काल' कहा जाता है। अकबर ने बीरबल को 'कविप्रिय' एवं नरहरि को 'महापात्र' की उपाधि दी थी। अकबर के दरबार में कश्मीर के मुहम्मद हुसैन को '*जरी कलम*' की उपाधि दी गई। जहाँगीर के भाई दानियाल भी हिन्दी में कविता करते थे।

शाहजहाँ के समय में सुन्दर कविराय ने *सुन्दर शृंगार*, सेनापति ने *कवित्त रत्नाकर,* कवीन्द्र आचार्य ने *कवीन्द्र कल्पतरु* की रचना की। उस दौरान कुछ अन्य महान कवियों के सम्बन्ध क्षेत्रीय राजाओं से थे--महाराजा जयसिंह से बिहारी, ओरछा से केशवदास सम्बन्धित थे। केशवदास ने कविप्रिया, *'रसिकप्रिया'* एवं '*अलंकार मंजरी*' जैसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। बंगाल के प्रसिद्ध कवि मुकुन्दराय चक्रवर्ती को प्रोफेसर कॉवेल ने बंगाल का क्रैब कहा।

मुगल काल को गुप्तकाल के बाद का द्वितीय क्लासिकी युग कहा जाता है। मुगल सम्राट अकबर ने अलग से अनुवाद विभाग की स्थापना की थी। इस विभाग में संस्कृत, अरबी, तुर्की एवं ग्रीक भाषाओं की अनेक कृतियों का अनुवाद फारसी भाषा में किया गया। ध्यातव्य है कि फारसी मुगलों की राजकीय भाषा थी। उस दौरान *'महाभारत'* का फारसी भाषा में *'रज्मनामा'* नाम से अनुवाद अब्दुल कादिर बदायूँनी, नकीब खाँ एवं अब्दुल कादिर ने किया। *'रामायण'* का फारसी अनुवाद सन् 1589 में में अब्दुल कादिर बदायूँनी ने किया। ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ *'तजक'* या *'तुजुक'* का फारसी में अनुवाद *'जहान-ए-जफर'* नाम से मुहम्मद खाँ गुजराती ने किया। *'अथर्ववेद'* का अनुवाद फारसी में हाजी इब्राहिम सरहिन्दी ने किया। *'पंचतन्त्र'* का फारसी अनुवाद अबुल फजल ने *'अनवर-ए-सुहैली'* नाम से तथा मौलाना हुसैन फैज ने *'यार-ए-दानिश'* नाम से किया। *'कालिया दमन'* का अनुवाद फारसी में अबुल फजल ने *'आयगर दानिश'* नाम से किया। '*राजतरंगिणी'* का फारसी में अनुवाद मौलाना शेरी ने किया। गणित की पुस्तक '*लीलावती*' का अनुवाद टोडरमल ने किया। *'भागवत पुराण'* का अनुवाद फारसी में टोडरमल ने किया। *'नलदमयन्ती'* का अनुवाद फारसी में फैजी ने किया। *'सिंहासन बत्तीसी'* का अनुवाद फारसी में अब्दुल कादिर बदायूँनी ने किया। *'तुजुक-ए-बाबरी'* का अनुवाद अब्दुर्रहीम खानखाना ने फारसी में किया। अरबी भाषा में लिखी गई भूगोल की पुस्तक *'मज्म-उल-बुलदान'* का फारसी में अनुवाद मुल्ला अहमद टट्ठवी, कासिम बेग एवं मुनव्वर ने किया। अरबी कृति *'हयात-उल-हयवान'* का फारसी में अनुवाद अबुल फजल एवं शेख मुबारक ने किया। *'योगवाशिष्ठ'* का अनुवाद फारसी में फैजी ने किया। इस्लाम धर्म के प्रति हिन्दू जनता में भाईचारे एवं सम्मान की भावना जगाने के लिए अकबर ने *'अल्लोपनिषद'* ग्रन्थ की रचना फैजी से करवाई। '*फारसी संस्कृत कोश*' की रचना कृष्णदास ने की। दाराशिकोह ने तो *श्रीमद्भागवद्गीता, योगवशिष्ठ* तथा बावन *उपनिषदों* का फारसी भाषा में अनुवाद करवाया ही।

मुगल काल में फारसी कविता के क्षेत्र में भी काफी काम हुआ था। बादशाह बाबर ने फारसी कविता के क्षेत्र में 'मुबइयान' शैली को जन्म दिया। अकबर भी फारसी एवं हिन्दी में कविताएँ रचते थे। प्रो. इथे के अनुसार, 'अकबर का काल फारसी कविता का भारतीय ग्रीष्मकाल था।' अकबर के समय में फैजी, गजाली और उर्फी फारसी के महत्त्वपूर्ण कवि हुए। जहाँगीर, नूरजहाँ, औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा, औरंगजेब की बहन जहाँआरा आदि शाही परिवार के लोग गजल, रुबाइयाँ एवं कविताएँ लिखा करते थे।

उर्दू का जन्म दिल्ली सल्तनत काल में हुआ। इस भाषा ने उत्तर मुगलकालीन बादशाहों के समय में भाषा के रूप में महत्त्व प्राप्त किया। प्रारम्भ में उर्दू को जबान-ए-हिन्दवी कहा गया। अमीर खुसरो प्रथम विद्वान कवि थे, जिन्होंने उर्दू भाषा को अपनी कविता का माध्यम बनाया। मुगल बादशाहों में मुहम्मद शाह (सन् 1719-1748) पहले बादशाह थे, जिन्होंने उर्दू भाषा के विकास के लिए दक्षिण के कवि शम्सुद्दीन वली को अपने दरबार में बुलाकर सम्मानित किया। वली दकनी को उर्दू काव्य का जन्मदाता कहा जाता है। कालान्तर में उर्दू को रेख्ता भी कहा गया। रेख्ता में गेसूदराज द्वारा लिखित पुस्तक *मिरातुल आशरीन* सर्वाधिक प्राचीन है।

2.6 उपनिवेशकालीन भारतीय अनुवाद की परम्परा

फिरंगी शासन के दौरान भारत में हुए अनुवाद कार्य का अवलोकन रोचक है। भारत के उपनिवेशीकरण के अभियान में अनुवाद-कार्य पर बरती गई फिरंगियों की सावधान सक्रियता विशेष रूप से विवेचनीय है। अब आकर विशेष रूप से उनके अनुवाद-अभियान की कलई खुल चुकी है। उनके अनुवाद-उद्यम का उद्देश्य अपवित्र था, वे हमारे साहित्य, संस्कृति, और रीति-रिवाज, आहार-व्यवहार, उत्सव-आचार की बारीकियों को जानकर हम पर शासन करने का सहज रास्ता तलाश रहे थे। अनुवाद-कार्य का उनका अपना सत्ता-विमर्श और अनुवाद की उनकी अपनी बहुआयामी नीतियाँ (अलग और लक्ष्य-केन्द्रित) थीं। पर उस दौरान राष्ट्र-प्रेम की भावना से भरे हमारे भारतीय मनीषियों ने बड़े ही महत्त्वपूर्ण अनुवाद किए। इन दोनों पक्षों के अनुवादों की वस्तुनिष्ठता में बुनियादी फर्क था। एक तरफ फिरंगी हमारी विरासत का विरूपित चेहरा दिखा कर हमें बरगला रहा था; दूसरी तरफ हमारे चिन्तक हमें अपनी भव्यता समझाकर हमारा मनोबल बढ़ाने की व्यवस्था में लगे थे। स्वाधीनता आंदोलन के समय राष्ट्रीय अस्मिता की तलाश के प्रयास और उसके विकास के लिए देशी भाषाओं में हुए उन अनुवादों के महत्त्व का विवेचन आज भी ठीक से नहीं हो पाया है।

उस दौरान देशी भाषाओं में प्रायः तीन तरह के अनुवाद हुए :

1. अंग्रेजी ग्रन्थों का विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद
2. संस्कृत के ग्रन्थों का आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनुवाद
3. आधुनिक भारतीय भाषाओं की रचनाओं का परस्पर अनुवाद

हिन्दी में इन तीनों तरह के अनुवादों के कार्य बड़े पैमाने पर हुए।

भारत में स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान राष्ट्र की कल्पना और धारणा के विकास में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

गौरतलब है कि आत्मसातीकरण की प्रक्रिया लगभग हर अनुवाद में काम करती है। औपनिवेशिक अनुवाद ने भारतीय समाज, कानून, इतिहास, संस्कृति, साहित्य, परम्परा और चेतना को आत्मसात करने का यत्न बड़े पैमाने पर किया, और वह अनुवाद उपनिवेशवादियों की धारणाओं से प्रेरित होकर हमारी अस्मिता का विरूपित चेहरा पेश कर रहा था। दुखद है कि अधिकांश भारतीय शिक्षित लोग उन अनूदित पाठों को भारतीय कानून, दर्शन और साहित्य आदि के ज्ञान का मूल स्रोत मानने लगे। यहाँ तक कि वे उन पाठों के माध्यम से भारत, भारतीयता, भारतीय समाज, संस्कृति और इतिहास सम्बन्धी विचार-विमर्श तथा आख्यान को प्रामाणिक मान रहे थे। वे अनुवादकों की दृष्टि, पद्धति और पाठों को स्वाभाविक समझ रहे थे। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों में भारतविदों द्वारा भारतीय पाठों के अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में जो अनुवाद हुए, वे उन उपनिवेशवादियों के सत्ता-विमर्श के उदाहरण थे। इस प्रक्रिया से निर्मित हुई भारत की पहचान, छवि या अस्मिता एक प्रकार से अनूदित अस्मिता थी। वह एकान्तिक और अनुकरणपरक भी थी और उससे निकला राष्ट्रवाद भी वैसा ही था।

आजकल उस औपनिवेशिक अनुवाद में व्यक्त और निहित विचारधारा का विखण्डन करते हुए उसकी यूरोप केन्द्रित प्रकृति की पहचान हो रही है।

2.7 उपनिवेशकालीन भारतीय अनुवाद की परम्परा के राष्ट्रवादी स्वरूप

भारतीय नवजागरण की चेतना के निर्माण और प्रसार में, विभिन्न जातीयताओं के बीच सम्बन्धों के विकास और एक अखिल भारतीय दृष्टि के उभार में अनुवाद के योगदान का अभी ठीक से अध्ययन और मूल्यांकन नहीं हुआ है।

तथ्य है कि भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण के अधिकांश निर्माता महत्त्वपूर्ण अनुवादक भी थे। हिन्दी नवजागरण के लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल के अनुवाद विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

उपनिवेशवादियों ने अनुवाद को भारतीय परम्परा और मानस पर कब्जा करने का साधन बनाया था। जब कि भारतीय नवजागरण के विचारकों ने अनुवाद को अपनी परम्परा की मुक्ति और स्वत्व की पहचान का माध्यम बनाया। भारतीय लेखक अनुवाद को औपनिवेशिक प्रभावों के विरुद्ध प्रतिरोध के साधन के रूप में विकसित कर रहे थे। वे आधुनिक चिन्तन और ज्ञान-विज्ञान से भारतीय समाज को परिचित कराने के लिए भी अनुवाद का काम कर रहे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने संस्कृत के पाँच, बांग्ला के एक और अंग्रेजी के एक नाटक का अनुवाद किया था। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जान स्टुअर्ट मिल की पुस्तक *'लिबर्टी'* का *'स्वाधीनता'* नाम से अनुवाद किया था, जिसका पहला संस्करण सन् 1907 में, दूसरा 1912 में और तीसरा संस्करण सन् 1921 में छपा। रामचन्द्र शुक्ल के अनुवादों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जर्मन वैज्ञानिक अर्न्स्ट हैकल की पुस्तक *'रिडिल ऑफ यूनीवर्स'* का *'विश्व प्रपंच'* नाम से अनुवाद। मुन्शी प्रेमचन्द ने भी अनुवाद के क्षेत्र में महान कार्य किए हैं।

तथ्य है कि हिन्दी नवजागरण के दौरान हिन्दी में सबसे अधिक अनुवाद– रचनात्मक साहित्य और राजनीतिक-सामाजिक चिन्तन की पुस्तकों का बांग्ला से हुआ। उल्लेखनीय है कि स्वत्व की पहचान के लिए अन्य की समझ भी आवश्यक है, न केवल 'स्व' और 'पर' के द्वैत अथवा अन्तर के रूप में, बल्कि द्वन्द्वात्मक रूप में भी। इस दृष्टि से सखाराम गणेश देउस्कर की पुस्तक *'देशेर कथा'* के हिन्दी अनुवाद का विशेष महत्त्व है। इसमें भारत की पराधीनता के यथार्थ की जटिल समग्रता और स्वाधीनता की अदम्य आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। हिन्दी पाठकों के बीच इस पुस्तक के अनुवाद और प्रसार ने स्वदेशी भावना जगाने और राष्ट्रीय चेतना को व्यापक बनाने में अनुपम भूमिका निभाई। उपनिवेश काल में तो यूरोपीय तथा भारतीय भाषाओं (विशेषकर संस्कृत) के बीच अनुवाद की लहर-सी चल पड़ी थी।

आदान-प्रदान का यह सिलसिला एक तरफ जर्मन, फ्रेंच, इटैलियन, स्पैनिश तथा भारतीय भाषाओं के बीच चल रहा था, तो दूसरी तरफ अंग्रेजी में अनुवाद की होड़ लगी थी। चूँकि औपनिवेशिक अधिकारी अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करते थे, इसलिए आधिपत्यिक अस्तित्व के कारण अंग्रेजी को विशेषाधिकार युक्त समझा जाता था।

विलियम जोन्स द्वारा कालिदास के *अभिज्ञानशाकुन्तलम* के अनुवाद के साथ अंग्रेजी अनुवाद का ब्रिटिशकाल चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। एक पाठ के रूप में *अभिज्ञानशाकुन्तलम* अब भारत की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का प्रतीक और भारतीय चेतना में एक उत्कृष्ट पाठ बन चुका है। उन्नीसवीं शताब्दी में दसाधिक भारतीय भाषाओं में इसके अनुवाद का तर्क इसी से पुष्ट होता है। प्राच्यविद् विचारधारा द्वारा एवं भारत को समझने, परिभाषित करने, श्रेणीबद्ध करने तथा नियन्त्रित करने हेतु अनुवाद की जरूरत से औपनिवेशिक अधिपति परिचित हो चुके थे, इसलिए वे कृतसंकल्प भी थे। अस्तु उन्होंने भारत का एक पृथक और अपनी पसन्द का विवरण तैयार किया।

जबकि भारतीय अनुवादकों ने अंग्रेजी में अनुवाद करने वाले पाठों का विस्तार करने, सुधारने, संशोधन करने का प्रयास किया; कभी-कभी ब्रिटिश व्याख्या को चुनौती भी दी, हालाँकि पूरा विवाद समकालीन पाठों की बजाय प्राचीन पाठों पर ही आधारित होता था।

भारतीय विद्वानों द्वारा भारतीय मूल-पाठों के अंग्रेजी अनुवाद के क्षेत्र में राजा राममोहन राय द्वारा अनूदित शंकर का वेदान्त, केन और ईशावास्योपनिषद् पहला भारतीय हस्तक्षेप था। इसके बाद आर.सी. दत्त ने ऋग्वेद, उपनिषदों, रामायण, महाभारत और कुछ शास्त्रीय संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया।

कहा जा सकता है कि इन अनुवादों ने स्वच्छन्दतावादी और उपयोगितावादी विचारधारा से प्रभावित उस धारणा का खण्डन किया, जिससे भारतीय नागरिकों को सुसुप्त मनोदशा का व्यक्ति माना जाता था। उसके बाद तो फिर अनुवाद के क्षेत्र में त्वरा आ गई। दीनबन्धु मित्र, अरबिन्द, रवीन्द्र नाथ टैगोर आदि ने यथेष्ट अनुवाद किए। इसी दौरान भारतीय भाषाओं में परस्पर अनुवाद भी शुरू हुआ। पर सचाई है कि आज भी भारत में अधिसंख्य शिक्षित लोगों की पहुँच से अंग्रेजी बाहर है, इन वर्गों का वास्तविक सशक्तीकरण केवल महत्त्वपूर्ण साहित्यिक और ज्ञान आधारित पाठों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद के माध्यम से ही सम्भव है।

2.8 भारत में अनुवाद की परम्परा एवं विस्तृत उपयोग

इन सब के बावजूद कभी किसी विद्वान ने भारत में अनुवाद सिद्धान्त की कोई परम्परा विकसित नहीं की। इस कार्य को मुक्त रहने दिया। कभी अनुवाद सम्बन्धी अपनी मान्यताओं को संस्थापित या आरोपित करने का काम नहीं किया।

यह ठीक भी था। भारत जैसे ज्ञानाकुल जनपद में ऐसा ही होना चाहिए था। बाद के दिनों में तो अनुवाद की आवश्यकता बहुफलकीय हो गई। नई दुनिया की नई जरूरतों के मद्देनजर विराट भौगोलिक परिवेश और बहुभाषिक नागरिक जीवन के आपसी सम्वाद की अकूत आवश्यकता दिखने लगी। जीवन-यापन के मूल और महत्त्वपूर्ण कारण विस्तृत और विविध हो गए। पर अनुवाद की प्राथमिक आवश्यकता प्रारम्भिक समय में व्यापार में सम्वाद और सम्प्रेषणीयता को लेकर ही दिख रही थी। भारत में धार्मिक सहिष्णुता प्रारम्भ से रही है। दूसरे जनपद में जाकर बर्बरतापूर्ण लूटपाट करना, उन पर शासन करना, उन्हें अपमानित करना, हेय समझना...आदि वृत्ति यहाँ के नागरिकों का कभी लक्ष्य नहीं रहा; सम्भवतः यह कारण भी हो कि भारतीय नागरिक के अनुवाद का विमर्श प्रारम्भ में मुख्यतः व्यापार और सामान्य सम्प्रेषण तक ही सीमित रहा, पर शीघ्र ही यह ज्ञान की शाखाओं में साहित्य एवं दर्शन की ओर आया और तेजी से आगे बढ़ता गया।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद तो अनुवाद कार्य के राजनीतिक उद्देश्य भी अत्यन्त प्रमुख और प्रखर हो गए। वैचारिक आदान-प्रदान, राष्ट्रीय सीमा की सम्वेदनशीलता, वैश्विक मैत्री की सम्विदाओं के मामले इतने महत्त्वपूर्ण हो गए कि व्यापारिक सम्वाद-सम्प्रेषण और सामाजिक सौहार्द की सीमा पारकर अनुवाद कार्य की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को रेखांकित करने लगी। विश्वव्यापी सांस्कृतिक, राजनीतिक, व्यापारिक, शैक्षिक सम्बन्ध; पत्रकारिता, साहित्य, कला, विचार-विमर्श, दर्शन, धर्म, शिक्षा, विज्ञान एवं तकनीकी उपलब्धि आदि के क्षेत्र में अद्यतन होने के लिए अनुवाद का उपयोग महत्त्वपूर्ण हो गया।

2.9 स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय अनुवाद की दिशा-दशा

इधर विश्वग्राम की अवधारणा में गतिकता आई। इसके सर्वतोभावेन विकास पर बल दिया जाने लगा। भारतीय संस्कृति के मूल में यह अवधारणा तो नीति के स्तर पर प्रारम्भ से ही है, और भारत के नागरिक ऐसा मानते भी आए हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कहने वाले भारतीयों के लिए 'उदार चरितानान्तु' की विशेषता बताई जाने लगी। भारतीय नागरिकों का यह 'उदार चरित' प्रारम्भ से है। तभी तो यहाँ के नागरिकों ने बाहर से आए भिन्न-भिन्न संस्कृति के लोगों को न केवल स्वीकार किया, बल्कि उनकी संस्कृतियों और उनके रहन-सहन से अपने सम्मिलन का रास्ता तक अख्तियार कर लिया। इतिहास का अन्वेषण अथवा समाज-शास्त्रीय पद्धति की कसौटी पर भारतीय जीवन-मूल्य का अनुशीलन किया जाए तो इस बात का प्रमाण आसानी से मिल जाएगा।

विश्वग्राम की अवधारणा का मूल सूत्र अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक सम्बन्ध में ही दिखता है; और विश्व फलक पर संस्कृति की यह समझ एक मात्र अनुवाद के जरिए सम्भव है। इस बात को मानने में कतई कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि किसी व्यक्ति के एक कथन का किसी एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने का अर्थ केवल उस कथन का अनुवाद नहीं है। उसमें वस्तुतः यह जानने की लगातार चेष्टा होती है कि उस कथन का पाठ क्या है, उस पाठ की व्यंजना क्या है, व्यंजना का उद्देश्य क्या है, कथन की शैली क्या है (शालीन, आक्रामक, निवेदन, सलाह, धमकी, सम्मान्य, अभद्र... आदि), कथन की शब्दावली कैसी है, वाचक किस देश-काल-पात्र की पर्यवस्थिति में है, वाचक की

वैयक्तिक-वैचारिक-मानसिक-पदेन हैसियत क्या है, कथन से वाचक और सम्बोध्य का सम्बन्ध क्या है...इन तमाम सवालों से जूझते हुए अनुवादक को अनुवाद करते समय सारी गुत्थियाँ सुलझानी पड़ती हैं। जब कभी हम अनुवाद करने बैठते हैं, केवल उस पाठ की भाषा नहीं बदलते, उस प्रसंग को दूसरी भाषा में देते हुए एक साथ कई बातों का ध्यान हमें रखना पड़ता है। शब्द-संस्कार, वाक्य संरचना, कथ्य का वातावरण, प्रसंग की संस्कृति, वाचक की सर्वांगीण पहचान से संचालित उसकी अभिव्यक्ति शैली...तमाम बातों के मद्देनजर लक्ष्य-भाषा से स्रोत-भाषा में किसी पाठ का भाषान्तर करते समय सचेत रहना पड़ता है।

2.10 अनुवाद : विज्ञान या कला

इस क्रम में इस बात की चर्चा भी समीचीन होगी कि अनुवाद को ज्ञान की किस शाखा में रखा जाए। लम्बे समय से विश्व भर के अनुवाद चिन्तकों के बीच इस बात पर बहस होती रही है, मतैक्य का अभाव होना जायज है। डॉ. भोलानाथ तिवारी, ई. ए. नाइडा, विल्स बेल्फ्रेम आदि ने अनुवाद को विज्ञान माना; डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर, डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया, ड्राइडन, थ्योडोर सेवरी आदि ने इसे कला माना; डॉ. गोपाल शर्मा, शैटक रोजर, ऐरोस्मिथ आदि ने इसे शिल्प माना; डॉ. जी. गोपीनाथन जैसे कुछ चिन्तकों ने मध्यम मार्ग अपनाते हुए इसे 'वैज्ञानिक कला' माना। वैसे तो डॉ. गोपीनाथन के तर्क से सहमत होने के पर्याप्त प्रमाण हैं, पर यह चर्चा, बहस तक ही सीमित रहे तो बेहतर है, क्योंकि 'अनुवाद कार्य' जैसे उद्यम पर आज जितना दायित्व आ गया है, उसे किसी सीमा में बाँधना दुस्कर है। ज्ञान की किसी भी एक शाखा की परिधि अनुवाद के दायित्व को पूरी तरह समेट पाने में विफल हो जाएगी। यदि अनुवाद को सिर्फ विज्ञान मानते हैं, तो जाहिर है कि वह उस अर्थ में विज्ञान नहीं होगा, जिस अर्थ में भौतिक विज्ञान का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त, अथवा रसायन शास्त्र की रसायनिक प्रतिक्रिया अथवा जीवविज्ञान की प्रजनन व्यवस्था है। वह विज्ञान है, भाषा विज्ञान की पद्धति में, जहाँ यह निर्धारित है कि अनुवाद के दौरान भाषा विज्ञान के नियमानुसार कोई अनुवादक सबसे पहले पाठ का विश्लेषण करता है, फिर उसका विकोडीकरण करता है, पुनर्सृजन के दौरान फिर उसका कोडीकरण करता है, और फिर लक्ष्य भाषा के पाठ को सजाता-सँवारता है। अनुवाद कार्य की इस बौद्धिक प्रक्रिया में बौद्धिक एवं विज्ञान सम्मत प्रयुक्तियों का भरपूर इस्तेमाल होता है। पर मात्र इस कारण इसे सिर्फ विज्ञान के खाते में सीमित रखना उचित नहीं है। ऐसा करने से इसका कला पक्ष पीछे छूट जाएगा, जिसके अभाव में अनुवाद विश्वसनीय तो हो जा सकता है, पर उसके निष्प्राण होने की पूरी सम्भावना बनी रहेगी। विज्ञान को मोटे तौर पर परिभाषित करते हुए इसे विषय विशेष का व्यवस्थित और परिभाषित ज्ञान (Systematic and formulated knowledge) अथवा विषय विशेष के ज्ञानार्जन की सुगठित निकाय (Organised body of the knowledge on subject) कहा गया है। इस अर्थ में तो विज्ञान की परिभाषा इतनी उदार और विराट है कि ज्ञान की सभी व्यवस्थित शाखाएँ इसमें आ जाएँगी। इन अर्थों में हम चाहें तो अनुवाद को विज्ञान मान भी लें। पर ध्यान रखना होगा कि अनुवाद सिर्फ विज्ञान नहीं है। इस विवेचन में ई.ए.नाइडा से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है कि Translation is far more than a science--It is also a skill, and the ultimate analysis fully satisfactory translation is always an art.

इस सन्दर्भ में डॉ. नगीन चन्द्र सहगल का कहना समीचीन है कि 'अनुवाद प्रक्रिया में विज्ञान, साधना में शिल्प तथा सिद्धि में कला है।'

यह बात सही है कि अनूदित पाठ की संरचना एक बौद्धिक प्रक्रिया से गुजरकर तैयार होती है, पर उसके अन्तिम स्वरूप तक पहुँचने में अनुवादक का कौशल कई स्तरों पर क्रियाशील रहता है। मूल पाठ और मूलवाचक की समग्र मौलिकता को ध्यान में रखते हुए लक्ष्य भाषा और लक्षित भावक की ग्राह्यता के मद्देनजर अनुवादक अपने विराट दायित्व के अधीन बहुत कुछ करता है। पूर्व में चर्चा हो चुकी है कि किसी एक व्यक्ति के किसी एक कथन का, किसी एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद का अर्थ केवल उस पाठ और पाठ के शब्दों का अनुवाद नहीं होता, बल्कि उस वाचक के पूरे वजूद का भी अनुवाद होता है, जो अप्रत्यक्ष रूप से उस कथन के भीतर अन्तःसलिला शक्ति के रूप में उपस्थित होता है। अनुवाद कर्म से जुड़े सभी व्यक्ति जानते हैं कि बेहतर अनुवाद प्रस्तुत करने के क्रम में कई बार, मूल पाठ के अप्रत्यक्ष, और भौतिक रूप से अलक्ष्य दायित्वों के अनुपालन हेतु सांस्कृतिक अन्तरण में कुछ बातें लुप्त हो जाती हैं और कुछ नई बातें आ भी जाती हैं। लोप और आगम की इस क्रिया की गुणवत्ता और मात्रा, अनुवादक के कौशल और प्रतिभा

पर निर्भर करती है। सम्भवतः इसी धारणा के तहत एतीन दोले (Etienne Dolet) ने अनुवादक के लिए शर्त रखी कि उसे मूल रचना के भाव और लेखक के प्रयोजन का पूर्ण ज्ञान तो होना ही चाहिए, स्रोत-भाषा और लक्ष्य-भाषा का पर्याप्त ज्ञान भी उसे होना चाहिए, अर्थ एवं अभिव्यंजना की रक्षा के लिए शब्दानुवाद से बचना चाहिए तथा मूल रचना के भाव एवं प्रभाव की समग्रता की रक्षा करनी चाहिए। ड्राइडन ने तो भावानुवाद को ही सर्वोत्तम अनुवाद माना है।

लेकिन भाषा-विज्ञान की इस पद्धति और बौद्धिक प्रक्रिया से तैयार हुई अनूदित संरचना को अनुवाद का अन्तिम और निर्णीत पाठ नहीं माना जा सकता। कई महान और कालजयी कृतियों का अनुवाद करते हुए बड़े-बड़े अनुवाद-चिन्तकों ने इस कर्म को पुनर्सृजन कहा है। जाहिर है कि पुनर्सृजन में भाषान्तर के दौरान अनुवादक को थोड़ी छूट मिल जाती है, पर यह भी सच है कि वह आजाद नहीं हो जाता। थोड़ी-सी छूट के साथ-साथ मूल पाठ और रचनाकार के साथ बँधे रहने की उसकी मजबूरी बढ़ जाती है। प्रो. जी गोपीनाथन इसी पद्धति के दौरान इस कर्म को वैज्ञानिक कला कहते हैं। उनका मानना है कि 'सहज समतुल्यता' की खोज में अनुवादक को अक्सर पुनर्सृजन करना पड़ता है। उनका मानना है, और सही ही मानना है कि हर भाषा की अपनी प्रकृति एवं विशेषताएँ होती हैं और हर लेखन की अपनी अभिव्यक्ति शैली होती है। चूँकि अनुवाद केवल शाब्दिक भाषान्तर नहीं, एक पुनराभिव्यक्ति है, जो अनुवादक की कल्पना, भाव-प्रवणता, मूल से प्रभावित होने के उनके स्तर, लक्ष्य भाषा की प्रकृति, सहज-ज्ञान एवं कलाशीलता के अनुरूप होती है। जैसा कि पूर्व में कहा गया, जिस तरह हर मूल-कथन में उसके वाचक/प्रस्तोता के व्यक्तित्व का कर्त्ता, करण, सम्प्रदान आदि शामिल होता है, उसी प्रकार अनूदित पाठ में भी, मूल पाठ के प्रति तमाम निष्ठा रखे रहने के बावजूद अनुवादक का व्यक्तित्व भी शामिल होता है। प्रो. गोपीनाथन का मानना तर्कसंगत है कि मूल कृति की आत्मा को और मूल कृति में प्रतिबिम्बित मूल लेखक के व्यक्ति के प्रभाव को भी अनुवाद में उतारना अभीष्ट होता है और इस शर्त की पूर्ति की क्रिया स्वयं में एक कला है। प्रो. गोपीनाथन कहते हैं कि कृतिकार के साथ पूर्ण रूप से तदाकार होकर उसकी आत्मा को पहचानने का काम वही कर सकता है जिसमें कलाकार जैसी संवेदना हो, सहानुभूति हो। यह कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि दुनिया के श्रेष्ठ अनुवादक, श्रेष्ठ मौलिक कृतिकार भी थे। प्रो. गोपीनाथन की उक्ति को एन. महापात्र के कथन से और बल मिलता है कि कलाकर की छठी इन्द्रिय अथवा सहज ज्ञान ही है जो कृति के सौन्दर्य-बिन्दु को पहचानकर उसका सम्प्रेषण कर देता है।

अर्थात्, अनुवाद कार्य अपनी पूरी प्रक्रिया में विज्ञान भी है, कला भी है, शिल्प भी है। इन सभी तर्कों के बावजूद यह मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि अनुवाद कार्य की वृहत्तर आवश्यकता द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद महसूस की गई, जब दुनिया भर के लोगों में सम्पर्क सूत्र का विस्तार हुआ। विभिन्न राष्ट्रों के बीच राजनीतिक, आर्थिक समीकरण बनने/बढ़ने लगे। व्यापारिक सम्बन्ध बढ़े, सांस्कृतिक आदान-प्रदान होना आवश्यक हो गया। इन्हीं आवश्यकताओं के बीच अनुवाद कार्य की दक्षता और गम्भीरता महत्त्वपूर्ण हो उठी। शिक्षण पद्धति में ज्ञान की शाखाएँ इतनी बढ़ गईं, जानकारी अर्जन के सूत्र इतने बहुभाषिक हो गए कि अपने समय का सचेत नागरिक कहलाने के लिए, और आत्म-स्थापत्य के आयुध जुटाने के लिए अनुवाद की ओर लोगों का रुझान उनकी मजबूरी हो गई। इस सन्दर्भ में ज्ञान की शाखा के रूप में अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण, और ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में दक्षता प्राप्त करने के लिए अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता--दोनों महत्त्वपूर्ण हो उठीं।

2.11 ज्ञान फलक का विस्तार और अनुवाद

उल्लेखनीय है कि प्रकाशन व्यवसाय ने उच्च कुलोद्भव लोगों के वर्चस्व से जैसे शिक्षा को मुक्त कराकर आम नागरिक में ज्ञान का अलख जगाया, अनुवाद वृत्ति ने वैसे ही ज्ञान की शाखाओं को उच्च शिक्षितों और बहुभाषाविदों के वर्चस्व से मुक्त किया। इतने बड़े संसार की बात तो दूर, अभी तक यह भी सम्भव नहीं हो पाया है कि भारत के लोग अपने देश की सभी भाषाओं में उपलब्ध सामग्री को पढ़ लिख सकें। भारत जैसे बहुभाषिक देश में तो यह दुस्कर ही लगता है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौर के कुछ बुद्धिजीवियों और उनके बाद की पीढ़ी के लोगों में तो थोड़ा बहुत बहुभाषिक ज्ञान था भी, पर बाद के लोगों ने तो त्रिभाषा फारमूला से ही काम चलाया। अपवाद स्वरूप कुछ लोग अवश्य होंगे। पर हैरत की बात अभी भी है कि कन्नड़ से असमिया या मलयालम से ओड़िया आदि में सीधे अनुवाद करने वालों की अनुपलब्धता बनी हुई है। भारतीय भाषाओं के बीच परस्पर अनुवाद कार्य के लिए अभी भी अधिकांश स्थितियों

में अंग्रेजी, या हिन्दी को सेतुभाषा के रूप में उपयोग में लाया जाता है। इन परिस्थितियों में हिन्दी भाषी क्षेत्र की जनता आज शिवराम कारन्त, या अक्का महादेवी, या सन्त ज्ञानेश्वर, या तुकाराम, या यू. आर. अनंतमूर्ति, या फकीर मोहन सेनापति, या ऐसे किसी भी महान रचनाकार की रचनाओं के जरिए उस जनपद की संस्कृति से परिचित हो पाता है; या फिर फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, अमेरिका, अफ्रीका, जापान की कला, साहित्य, संस्कृति अथवा वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक-राजनीतिक उपलब्धियों से परिचित हो पाता है, तो इसका श्रेय अनुवाद को ही जाता है। यहाँ तक कि परराष्ट्र अथवा प्रान्तेतर भाषा-क्षेत्र के विभिन्न संकायों में जो कुछ महत्त्वपूर्ण होता है, और वहाँ के संचार माध्यमों में इसकी चर्चा होती है, तो उन खबरों की जानकारी भी विश्व फलक पर अनुवाद के माध्यम से ही पहुँचती है। इस अर्थ में खबरों का अनुवाद, खुद अनुवाद कार्य के लिए महत्त्वपूर्ण हो उठती है और अन्य भाषा क्षेत्र के लोग उन कृतियों के अनुवाद की ओर उन्मुख होते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में लोकतन्त्र की इस बहाली का श्रेय आज अनुवाद को ही जाता है कि कोई ऐसा नागरिक, जो रूसी या फ्रेंच या जर्मन नहीं जानता, यहाँ तक कि भली-भाँति अंग्रेजी भी नहीं जानता, पर वह आज मैक्सिम गोर्की, दोस्तोयवस्की, सिमोन द' बुआ, हावरमास, कामू, काफ्का, ग्राम्सी, गुण्टर ग्रास, इलियट, गेटे की बात कर सकता है।

टीका से भावानुवाद और भावानुवाद से पूरे अनुवाद तक पहुँचे हुए हम लोगों के लिए यह कम खुशी की बात नहीं है कि आज हमारे यहाँ अनुवाद प्रक्रिया में भी काफी विकास हुआ है। एक तरह से पेशे के रूप में भी और मुहिम के रूप में भी इस दिशा में काफी लोग आगे आए हैं और काफी निष्ठा एवं प्रतिबद्धता से इस दिशा में काम कर रहे हैं। इस प्रक्रिया ने हमारे यहाँ आन्दोलनात्मक रूप से कई उपलब्धियाँ हासिल कीं। मजे की बात यह है कि हर उपलब्धि ने इस दिशा में अनुवादकों के उत्साह को बढ़ाया और अनुवाद साहित्य की हैसियत बढ़ी। साहित्य अकादेमी द्वारा अनुवाद कार्य पर पुरस्कार, जगह-जगह अनुवाद में डिप्लोमा पाठ्यक्रम, तुलनात्मक साहित्य पर शोध और विशेष अध्ययन—ये सारी घटनाएँ हमारी उपलब्धियाँ ही हैं।

इन सबके साथ, साहित्यिक आदान-प्रदान ने जो सबसे बड़ा काम किया, वह यह कि इसने भारतीय भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन को सुविधाजनक बनाया है, जिससे विभिन्न भाषा के वैचारिक साम्य को समझने की गुंजाइश सामने आई और राष्ट्र के एकीकरण में इन गतिविधियों ने अपना अहम् योगदान दिया है। हर भाषा का साहित्य अपने जनपद की समकालीन सभ्यता, आचार-विचार, रहन-सहन, संस्कृति, शिष्टाचार का वाहक होता है। अर्थात्, साहित्य अपने जनपद की लोक-सभ्यता का इतिहास होता है और उस भाषा के चिन्तकों के आत्म मन्थन का वाहक होता है। अनुवाद के माध्यम से हम थोड़े कम घनत्व और थोड़ी कम तीव्रता के साथ ही सही, पर वहाँ की लोक सभ्यता से परिचित होते हैं। यह परिचय न केवल वहाँ के बारे में हमारी जानकारी बढ़ाता है, बल्कि वहाँ की जनता से हमारी घनिष्ठता भी बढ़ाता है। इस सत्य से साक्षात्कार पुराने समय के विधर्मी और विदेशी शासकों का हुआ था, जिसने भारत में आने के बाद अपने धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद यहाँ की भाषाओं में करवाया और यहाँ के धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद अपनी भाषा में। धर्म के जरिए लोकसत्ता में प्रवेश का यह सरल मार्ग उनलोगों ने बड़ी आसानी से ढूँढ लिया और अपने मिशन में एक सीमा तक सफल हुए।

भारत की जनता के साथ एक बड़ी विडम्बना रही है। सम्भव है कि यह विडम्बना अन्य देशों में भी हो, पर भारत के सन्दर्भ में यह कहने का तर्क है कि यहाँ समय-समय पर गद्दारों का उदय होता रहा है, जिस कारण यहाँ पर विदेशियों का आक्रमण और उनका दुर्व्यवहार सफल होता रहा है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में तो गद्दारों को अवान्तर मार्ग अपनाना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि सैकड़ों वर्षों तक गुलामी की जंजीर में भी जिस भारत ने अपनी अस्मिता और अपनी संस्कृति सुरक्षित रखी, वह स्वाधीनता के पश्चात् खण्डित होने लगी। पर धन्य कहें साहित्य को और साहित्यिक आदान-प्रदान को, जिसने हमारी एकता और अखण्डता को आहत होने से बचाया। हम हिन्दी में श्रीलाल शुक्ल की *रागदरबारी* की बात करें तो समाज की शिक्षा, संस्कृति, आदर्श, प्रतिमान, नीति, व्यवस्था सब पर पाखण्ड और रूढ़ि की विकृति का प्रभाव दिखता है, पुनत्तिल कुंजब्दुल्ला के मलयालम उपन्यास *मरन्नु* (दवा) में चिकित्सा की दुनिया की दुर्गन्धियों का खुलासा दिखता है। तेलुगु में केसव रेड्डी के उपन्यास *उसने जंगल को जीता* में मानवीय शक्ति के आतंक के साथ संघर्ष और उसके विजय की गाथा अंकित है; तो तमिल में सु. समुत्तिरम के *ओरुकोट्टुकु वेलिए* (एक घेरे से बाहर) में एक स्त्री मजदूर के संघर्ष और जमीन्दारों द्वारा उसके संघर्ष को लगातार कठोर बनाते जाने की दुष्कृति। पंजाबी में सोहन सिंह 'शीतल' के *तूतां वाला खूह* में विभाजन की त्रासदी है, तो मलयाट्टूर रामकृष्णन के

मलयालम उपन्यास *यन्त्र* में नौकरशाही की अन्दरूनी दुनिया की गन्दगी। इन सबके साथ हिन्दी के *झूठा सच, आधा गाँव, मैला आँचल,* मैथिली के *पृथ्वी पुत्र,* मराठी के *कोसला,* गुजराती के *जीवन एक नाटक,* कन्नड़ के *मुक्ति, घटश्राद्ध,* बंगला के *सीप की कोख में मोती* या अन्यान्य भाषाओं के घनेरों उपन्यास, नाटक, कथा आदि का नाम लेकर सोचना शुरू करें, तो हमें कभी इनके पाठ के समय भाषाई विवाद और भाषाई विभिन्नता की बात ध्यान में नहीं आती। ऐसा लगता है कि हमारे पूरे मुल्क के साहित्यकार एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित दिखते हैं और हरेक के यहाँ पाखण्ड, विकृति, शोषण, व्यभिचार, अत्याचार पर जनशक्ति के विजय की कथा अंकित दिखती है और यही वह जादुई शक्ति है जो हमारे बीच संगम की सरस्वती नदी की तरह अन्तःसलिला बह रही है और हमें हमारे मानवीय धर्म से अनुप्राणित किए हुए हैं।

समय वाकई बहुत बेढब चल रहा है। विज्ञान की आधुनिकता और सभ्यता के विकास ने हमें बहुत कुछ दिया है, पर हमारा बहुत कुछ लूट लिया है। उपभोक्तापन हममें बढ़ गया है, हमारी जरूरतें बढ़ गई हैं, इसलिए अधिक धन की आवश्यकता हो गई। संसाधन कम हैं, जनसंख्या बढ़ गई है, इसलिए अभाव स्वाभाविक है। और इसीलिए समय का इंच-इंच उपयोग करके भी लोग अपनी जरूरतों के उपस्कर जुटा नहीं पाते हैं। फलस्वरूप अनाचार और अवैध धन्धों का तेजी से प्रचार-प्रसार हुआ। इन अवैध धन्धों में चोरी, बेइमानी, प्रपंच, लूट, घूसखोरी, हत्या, बलात्कार, घपला, घोटाला, दंगा, फसाद...सब बढ़ा। पर, इन अनाचारों की आँधी में भी हम जड़ से नहीं उखड़े हैं और हमारी मानवता बची हुई है, तो इसके लिए सम्बल हमारा साहित्य ही है, जिसे समृद्ध करने में साहित्यिक आदान-प्रदान, अर्थात् अनुवाद की अहम् भूमिका है।

2.12 आधुनिक काल में अनुवाद का फलक विस्तार

अनुवाद के जरिए ही हम अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक सम्बन्ध और राजनय को सुनिश्चित कर पाते हैं। हमारे राष्ट्र के हितैषी हमारे पक्ष में कहीं कुछ बोलते हैं, अथवा हमारे विपक्ष में कुछ योजना गढ़ते हैं, तो अनुवाद ही ऐसा साधन है कि हम उससे वाकिफ हो पाते हैं। वैसे तो प्रशासन, पत्राचार, न्यायालय, शिक्षा, धर्म, शोध, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, फिल्म एवं जन संचार, साहित्य-कला-संस्कृति एवं भाषा शिक्षण, राजनय, प्रतिरक्षा आदि में अनुवाद का महत्त्वपूर्ण योगदान है, पर इस योगदान के साथ-साथ इसकी सम्वेदनशीलता भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है। न केवल राष्ट्रीय-अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों एवं राजनय को लेकर, बल्कि भारतीय परिप्रेक्ष्य में आन्तरिक मामलों के लिए भी सम्वेदनशीलता बहुत बढ़ गई है। वैचारिक संघर्ष इतने सूक्ष्म हो गए हैं, और वक्तव्यों में बिम्ब-प्रतीक के प्रयोग इतने प्रभावी हो गए हैं कि छोटे-छोटे कथन की व्यंजना विराट होने लगी है। इस परिस्थिति में इस दायित्वपूर्ण उपक्रम का दायित्व बड़ा जोखिम भरा हो गया है, इसलिए इसमें सावधानी की अपेक्षा भी अधिक की जाने लगी है।

अध्यापन कार्य में अनुवाद का वृहत् योगदान वेदकालीन संस्कृत से लेकर आज तक की विभिन्न भारतीय भाषाओं में, वस्तुतः दूसरे देशों की भाषाओं में भी रहा है। उसकी विधि अन्वय, व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या, सरलार्थ, भावानुवाद, सम्पूर्ण अनुवाद, जो भी हो; ज्ञानार्जन में इसके विभिन्न रूपों का योगदान होता रहा है। बाहुभाषिकता अथवा मूल पाठ की अर्थ-जटिलता की विडम्बनाओं से उबरने के लिए अनुवाद और उसकी विधियाँ काम आती रही हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद और फिर भारतीय स्वाधीनता के बाद से दुनिया भर के देशों का जिस तरह आपसी सम्बन्ध बना, उसमें अनुवाद की महत्ता विराट हो गई। अनुवाद प्राचीन काल से अध्यापन कार्य में सहायक होता आ रहा है। मराठी के प्रख्यात उपन्यासकार गंगाधर गाडगिल ने भी अपने ऐतिहासिक उपन्यास प्रारम्भ में सबल साक्ष्यों के साथ इस बात ही जानकारी दी है। ब्रिटिश शासन के दौरान समाज के शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक विकास के लिए अनुवाद किस तरह अपरिहार्य घटक बन गया था, इसका प्रामाणिक विवरण वहाँ दिया गया है। हमारे गौरव-ग्रन्थों का जो अनुवाद फिरंगियों ने अपनी भाषा में किया, व्यापक अर्थो में उसका सम्बन्ध भी शिक्षा-शास्त्र से ही है। वस्तुतः वे हमारी सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि की जानकारी हासिल करना चाहते थे। अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भारतीय नागरिकों के बारे में वे जितनी जानकारी हासिल कर उसके आधार पर उन्हें पूरी तरह विश्वास हो गया था कि ये भारतवासी अपनी विपन्नता में भी सम्पन्न ही दिखते रहेंगे। भूखे रहकर भी इनका सर नहीं झुकेगा।

तब जाकर उन्होंने तय किया कि इसके सम्मान और मनोबल को ध्वस्त करना जरूरी है, और ऐसा करने के लिए उनकी सांस्कृतिक विरासत की सूक्ष्मताओं को जानना जरूरी है, उनके मनोबल को तोड़ने का सूत्र उनकी संस्कृति और रहन-सहन को जाने बगैर नहीं मिल सकता। उस हाल में उसने हमारे धार्मिक-पौराणिक ग्रन्थों का अनुवाद कर हमारी सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत पर आघात कर, अपने धर्म और अपनी संस्कृतियों के वर्चस्व की दुहाई दी, और हमारे यहाँ की जनता का मनोबल तोड़ना शुरू किया। गंगाधर गाडगिल के उपन्यास प्रारम्भ में इन बातों का जिक्र भी विस्तार से है। ध्यान रखने की बात है कि उपन्यास यथार्थ नहीं होता, पर हर ऐतिहासिक उपन्यास समकालीन और वर्णित देश-काल की चित्तवृत्ति की कथा अवश्य कहता है। समाज में शिक्षा के प्रचार-प्रसार, वाणिज्य-वृत्ति के विकास, सामाजिक उत्थान, प्रगति के प्रति आम नागरिक में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, परम्परा के सम्पोषण और रूढ़ि से मुक्ति, संचार माध्यमों के सीमित संसाधनों से जनजागरण का अलख, स्त्री शिक्षा के प्रति जागरूकता और छूआछूत से छुटकारा... इन तमाम बातों की नींव उस दौर में पड़ी थी और अनुवाद कार्य ने इसमें बड़ी भूमिका निभाई थी।

पर शिक्षा-शास्त्र के क्षेत्र में अनुवाद के महत्त्व का सर्वाधिक उछाल औद्योगिक क्रान्ति के बाद ही दिखता है। विश्व भर का मानचित्र वैज्ञानिक अवदान के कारण सिमट गया। ज्ञान-विज्ञान की कई शाखाओं का विकास हुआ। विषय विशेषज्ञता की आवश्यकता महसूस होने लगी। ज्ञान सम्पदा का आदान-प्रदान वृहत् पैमाने पर होने लगा। परराष्ट्र की प्रतिभाओं का उपयोग शुरू हुआ। ज्ञानार्जन और अर्जित ज्ञान के उपयोग से अर्थोपार्जन की स्वाधीनता बढ़ गई। इन तमाम क्रिया-कलापों के विकास से अनुवाद का फलक बढ़ गया। और, अनुवाद परम्परा की हमारी प्राचीन पद्धति थोड़ी अक्षम दिखने लगी। ज्ञानलोक और चिन्तन-पद्धति के विकास के कारण विषय उपस्थान में सम्वेदनशीलता इतनी बढ़ गई कि अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना दिखने लगी। प्राचीन समय में अनुवाद के नाम पर जो टीका, व्याख्या, सारांश प्रस्तुत किया जाता था, उसमें मूल पाठ का बहुत कुछ खर्च हो जाता था। नई भाषा में आए हुए पाठ में कुछ आमदनी भी हो जाती थी। वैसे, आज भी अनुवाद क्रिया में इन सम्भावनाओं से बचा रह पाना मुश्किल है।

इसका सबसे बड़ा कारण होता है दोनों भाषाओं की अपनी सांस्कृतिक पहचान। हर क्षेत्र की भाषा और संस्कृति वहाँ के इतिहास भूगोल और विरासत से सम्पोषित होती है। उस क्षेत्र की आबोहवा, वहाँ की जलवायु, वहाँ का वातावरण... सब मिलकर ही वहाँ के मनुष्य का तन और मानस रचा होता है। आचरण, आदत में; आदत, रहन-सहन में; रहन-सहन, प्रथा में; प्रथा, संस्कृति में...जिस लम्बी जीवन व्यवस्था में परिवर्तित होता है, वह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया होती है। दो भाषा क्षेत्रों की जटिल जीवन व्यवस्थाओं का तालमेल कराने में बड़े-से-बड़े महारथी कई बार विवश हो जाते हैं। अनुवाद कार्य के दौरान कुछ लोप और आगम (Loss and Gain) की स्थिति ऐसी ही विवशता में उत्पन्न होती है। वस्तुतः यह स्थिति किसी सिद्ध अनुवादक के लिए सबसे बड़ी चुनौती की स्थिति होती है।

पर आज के समय में, जब अनुवाद-कला का विराट महत्त्व प्रमाणित हो चुका है और विश्व फलक पर इसकी आवश्यकता दिख रही है, ज्ञान की शाखा के रूप में इसकी मान्यता बन चुकी है, इस पर कई दिशाओं से सोचने की आवश्यकता हो गई है।

बहुभाषिकता और विभिन्न राष्ट्रों के बीच राजनीतिक, कूटनीतिक, सांस्कृतिक सम्बन्ध तथा सीमावर्ती स्वायत्तता से सम्बन्धित राजनय के मद्देनजर अनुवाद की महत्ता अनिवार्य और दायित्त्वपूर्ण हो गई है। इस रास्ते शिक्षण पद्धति में इसका प्रवेश गम्भीरता से हुआ है। शासन-व्यवस्था, संचार-माध्यम, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, राष्ट्रनिर्माण, मानवीय सौहार्द, वाणिज्य, उद्योग-धन्धे, प्रबन्धन-पद्धति, कला-साहित्य-संस्कृति, विचार विनिमय आदि के क्षेत्र में आज अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर अनुवाद की उपयोगिता इतनी अधिक बढ़ गई है कि इसके बिना ये सारे तन्त्र अपंग साबित होने लगे हैं। इधर शिक्षा के क्षेत्र में विशेषज्ञता की माँग इतनी बढ़ गई है कि इन सभी दिशाओं में विभिन्न संस्थानों में उच्चतर शिक्षा दी जाने लगी है। जाहिर है कि अनुवाद के सूक्ष्मतर उपयोग के बिना ये सारे अपूर्ण होंगे। भारत जैसे बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक देश में तो इसकी महत्ता और भी विशिष्ट हो गई है।

नायडा, न्यूमार्क, बाथगेट जैसे अनुवाद चिन्तकों ने स्रोत-भाषा के पाठ से लक्ष्य-भाषा के पाठ तक की यात्रा में एक बेहतर अनुवाद के लिए विश्लेषण, बोधन, समन्वयन, संक्रमण, पुनर्गठन...जितने भी पड़ाव तय किए हैं; उन सब में बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है। हर समय और हर विषय-प्रसंग का चिन्तक अपने अनुभव, प्रतिभा, और

जीवन-दृष्टि के आधार पर कोई सिद्धान्त तय करता है। जरूरी नहीं कि वह सिद्धान्त सब के लिए सभी परिस्थितियों में सफल साबित हो। कई बार तो सिद्धान्तकर्ता कुछ समय बाद अपने ही मत को खुद खण्डित कर नए मत प्रस्तावित कर देते हैं। हमारे यहाँ तत्सम शब्दों का अन्वय विश्लेषण और शब्दों की व्युत्पत्ति प्रक्रिया ढूँढने के क्रम में पाठ की समझ विकसित करने की मंशा ही शामिल रहती है। अध्यापन, विवेचन, विश्लेषण, शास्त्रार्थ, कथावाचन आदि समस्त शैक्षिक, बौद्धिक, शास्त्रीय, लौकिक आदि उपक्रमों में अथवा सामाजिक रूप से पंचायत व्यवस्था में, वैचारिक आदान-प्रदान में, इन प्रक्रियाओं का उपयोग भारतीय पद्धति में होता आया है।

2.13 सारांश

संस्कृत समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी है, इसके बावजूद आज भारतवर्ष में शताधिक भाषाएँ/उपभाषाएँ वजूद में हैं। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में ही बाइस भाषाएँ स्वीकृत हैं। हर भाषा का अपना खास वातावरण और अपनी विलक्षण व्यवहार शैली एवं संस्कृति है। सभी भाषाओं के साहित्य उस जनपद के जनजीवन की चित्तवृत्तियों से सराबोर है। यह भी सच है कि भारतीय नागरिकों की जीवन-शैली सदा से ज्ञानाश्रित रही, ज्ञानोन्मुख विषयों पर यहाँ सदा विचार-विमर्श होता रहा। व्यापार की दिशा में इस राष्ट्र में कभी उग्रता नहीं रही, उसे यहाँ कभी प्रतिस्पर्द्धा की दृष्टि से नहीं देखा गया, यह उपक्रम जीवन की एक सामान्य क्रिया मात्र रहा। इस राष्ट्र के बुद्धिजीवियों के चिन्तन का केन्द्रीय विषय मानवीयता ही बना रहा। धर्म, दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद, ज्यामिति, और रमल-शास्त्र यहाँ की चिन्तन परम्परा का मुख्य लक्ष्य रहा। और, इस दिशा में यहाँ पर्याप्त कार्य भी हुए। इस सम्पूर्ण विरासत में वैदिक संस्कृत से लेकर उत्तरवैदिक संस्कृत/लौकिक संस्कृत, और फिर आधुनिक भारतीय भाषाओं की विकास प्रक्रिया तक में लगातार परिवर्त्तन होता रहा। विश्लेषण, अन्वय, टीका, व्याख्या की अनेक सरणियों से न केवल सर्जनात्मक साहित्य, बल्कि जीवन-व्यवस्था के अधीन ज्ञान के सभी संकायों में अनुकथन, पुनर्कथन की दीर्घ परम्परा बनी रही। अकेले ब्रिटिश शासन काल की भारतीय जीवन पद्धतियों का सूक्ष्मता से अनुशीलन किया जाए तो इस प्रसंग में शोध और विश्लेषण की विराट सम्भावनाएँ उपस्थित हो जाएँगी। इस पूरी व्यवस्था में, करते जाने के इतने बड़े-बड़े लक्ष्य, इस राष्ट्र के बुद्धिजीवियों के समक्ष आते गए कि उन्हें अपने किए हुए कार्यों का गीत गाने की सुविधा नहीं मिल सकी। इससे अलग यह भी कि यहाँ के चिन्तकों के लिए अनुकथन/पुनर्कथन/पुनर्प्रस्तुति के क्रम में बोधन, विश्लेषण, अन्वय, व्यख्या के जितने कार्य करने पड़े, उन सबको हमारे पूर्वजों ने अपनी दिनचर्या का एक अंश माना, इतिहास की कोई घटना नहीं। अनुवाद अध्ययन के क्षेत्र में भारतीय चिन्तन परम्परा को यदि इस पद्धति से रेखांकित किया जाए, तो इसकी लम्बी परम्परा का सूत्र हमारे सामने होगा। कीर्ति-स्तम्भ स्थापित करने की परम्परा तो भारत में भी रही है। पर राजाओं के यहाँ; बुद्धिजीवियों/चिन्तकों की मण्डली में नहीं, इनके यहाँ तो ज्ञान-चर्चा ही सर्वाधिक महत्त्व का विषय बना रहा। देर तक तो शिक्षा व्यवस्था भी अभ्यास और मौखिक परम्परा से चलती रही। पर आज के समय में अनुवाद की स्थिति बदल गई है। भाषा और संस्कृतियों की विविधता के मद्देनजर विश्व फलक पर कई प्रसंग सामने हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के साथ मनुष्य की विचार-व्यवस्था में बड़ा परिवर्तन हो गया है। विज्ञान के अवदान और मनुष्य के ज्ञान की परिणतियाँ, विध्वंसक उपलब्धियों के इर्द-गिर्द घूमने में विश्वास करने लगी हैं। राजनय और कूटनीतिक स्थितियाँ बदल गई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को लेकर वैचारिक संघर्षों को लेकर, विचार-व्यवस्था पर्याप्त व्याख्येय और बहुअर्थी व्यंजना से परिपूर्ण हो गई है। जाहिर है कि अनुवाद जैसे कार्य आज अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।

अनुवादक अथवा अनुवाद चिन्तक के रूप में प्रशिक्षित होने के लिए वैश्विक फलक पर उक्त सारी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। अनुवाद अध्यापन के क्रम में कक्षा-अध्यापन और पाठ्यक्रम का विकास करते हुए आज यह सोचना बहुत आवश्यक हो गया है कि जिन दो भाषाओं के बीच यह सम्बन्ध हो रहा है, उनके अपने अन्तर्सम्बन्ध भी अपनी-अपनी जगह रक्त-शिराओं की तरह फैले हुए हैं। मूल पाठ का बोधन, विश्लेषण करते हुए वाचक/प्रस्तोता की बौद्धिकता और विषय वस्तु के बारे में उसकी समझ से लेकर लक्ष्य-भाषा के भावक की ग्रहण-शक्ति तक की चिन्ता करना; दोनों पाठों में अन्तःसलिल धारा की तरह अलक्ष्य, किन्तु विद्यमान संस्कृति और परिवेश का आरोपण करना कितना मुश्किल, और कितना जरूरी है--पाठ्यक्रम विकास के क्रम में इस बात का ध्यान रखना बेहद जरूरी है। इन सावधानियों से निरपेक्ष रहकर कोई भी व्यक्ति बेहतर तो क्या, सामान्य अनुवादक या अनुवाद चिन्तक नहीं हो सकता। अनुवाद का लापरवाह अर्थ लगाने वाले व्यक्ति के बारे में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे अनुवाद के विभिन्न रूपों में से हर एक

को समग्र मानने की भूल कर रहे हैं। आज की तारीख में विश्वसनीय अनुवाद और बात है, और बेहतर अनुवाद और। विश्वसनीय अनुवाद पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही 'गिव द ऑनर गेट द ऑनर' का अर्थ 'इज्जत दो, इज्जत लो' लगाते हैं, या 'प्योर काउ मिल्क इज एवलेवल हेयर' का अर्थ 'यहाँ शुद्ध गाय का दूध उपलब्ध है' लगाते हैं। इन पंक्तियों का अनुवाद कोशीय अर्थो में गलत नहीं है। लेकिन पाठ्यक्रम विकास के क्रम में यही उदाहरण सहायक साबित होता है कि अनुवाद कार्य अथवा अनुवाद चिन्तन के समय भाषा-विज्ञान, भाषा का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य, वाचक/उद्घोषक का ध्वनि-प्रयोग, मुहावरा-लोकोक्ति, बिम्ब-प्रतीक किस तरह का चमत्कार उत्पन्न करता है। ये किसी पाठ के वैसे वैशिष्ट्य हैं, जिनकी जानकारी के अभाव में पाठ विरूपित हो जाता है।

इन दिनों मशीनी अनुवाद पर भी तल्लीनता से काम हुआ है। उस काम की सराहना की जानी चाहिए, लेकिन पाठ्यक्रम में इसका उल्लेख होना भी आवश्यक है कि मशीनी अनुवाद की अपनी सीमा है। मशीनी अनुवाद उसी पाठ का सम्भव है, जिसके प्रस्तोता मूल पाठ ही इस धारणा से प्रस्तुत करें कि इसका मशीनी अनुवाद होना है। अभिधा शक्ति के अतिरिक्त किसी और भाषा-ध्वनि का प्रयोग उसमें न हो। वर्ना मशीनी अनुवाद का संपादन एक जंजाल बन जाता है। वैसे भी किसी भ्रष्ट अनुवाद को सुधारने से बेहतर कार्य फिर से अनुवाद करना होता है।

इसी तरह हर भाषा-क्षेत्र की संस्कृति और शब्द-संस्कार का ध्यान रखना आवश्यक है। मिथिलांचल के ब्राह्मण माँस-मछली खाते हैं, जबकि शाकद्वीपीय ब्राह्मण माँसाहार वर्जित रखते हैं। छोटानागपुर में नानी-नाती के बीच हास-परिहास का रिश्ता होता है, बिहार में आदर और लिहाज का। बिहार में जीजा-साली में परिहास चलता है, केरल में भाई-बहन की तरह लिहाज किया जाता है। दिसम्बर माह में दिल्ली में पुरजोर ठण्ड पड़ती है। कोचीन में एअर कण्डीशन चलाना पड़ता है। अब मैथिली के किसी पाठ का अनुवाद यदि हिन्दी में हो, नागपुरी का अनुवाद मैथिली में हो, हिन्दी का अनुवाद मलयालम में हो, मलयालम का पंजाबी में हो...तो इस तरह की सांस्कृतिक भिन्नता; खान-पान, रहन-सहन, पहनावे-ओढ़ावे की विविधता को अनुवाद करते समय किस तरह लिया जाना चाहिए, इसके संकेत अनुवाद के शिक्षण क्रम में जरूरी हो गया है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में तो खासकर शब्दावलियों की विराट अर्थ-ध्वनियाँ हैं। सर्वनामों और क्रियापदों की विशिष्ट प्रयुक्तियाँ हैं। अंग्रेजी का 'एंगर', हिन्दुस्तानी में गुस्सा, क्रोध, कोप बनकर आता है। पर स्थिति यह है कि अंग्रेजी में परशुराम भले एंग्री हो जाएँ, हिन्दी में वे गुस्सा नहीं होंगे, क्रोधित होंगे; अंग्रेजी में भगवान विष्णु भले एंग्री हो जाएँ, हिन्दी में गुस्सा नहीं होंगे, कुपित होंगे। इस तरह के असंख्य उदाहरण विभिन्न भारतीय भाषाओं से लिए जा सकते हैं।

सारांशतः आज के जटिल और मिश्रित पर्यवस्थिति से भरे-पूरे सामाजिक परिदृश्य में हम ब्राह्मण, आरण्यक, निघण्टु, निरुक्त से अनुवाद की भारतीय परम्परा और सरगोन की विजय घोषणा से पश्चिमी अनुवाद परम्परा की माला भले जप लें; पर अनुवाद अध्ययन की शिक्षा-पद्धति विकसित करने हेतु यह ध्यान हर समय रखना होगा कि मूल पाठ के वाचक एवं विषय, वाचक और विषय के उद्देश्य, भाषा क्षेत्र, परिवेश, संस्कृति, भाषा विज्ञान, लोक-प्रयुक्ति, विषय की सम्वेदनशीलता के मद्देनजर ही कोई अनुवादक या अनुवादक-चिन्तक अपने को लक्ष्य भाषा के लिए तैयार करता है और अनुवाद की कोटि तय करता है कि इस पाठ के लिए टीका, व्याख्या, अन्वय-विश्लेषण, इण्टरप्रिटेशन, अनुवाद...क्या उचित है? और इसी पद्धति में लक्ष्य भाषा के भावक के मानसलोक और बौद्धिक स्तर, भाषा-क्षेत्र के परिवेश, संस्कृति, भाषा संरचना, लोक प्रयुक्तियाँ, विषय-निरूपण आदि तय करता है। जाहिर है कि इसमें किसी अनुवादक या अनुवाद चिन्तक को इस कार्य में उसके प्रशिक्षण का अनुभव और व्यावहारिक पद्धति के दौरान प्राप्त पटुता ही सहायक होगी। इसलिए अनुवाद की भारतीय परम्परा को जानने-समझने के लिए हमें इन बारीकियों को समझना अनिवार्य है।

2.14 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. भारतीय अनुवाद परम्परा के आदिम सूत्रों पर विचार करते हुए उसके विभिन्न सोपानों का तर्क सहित उल्लेख कीजिए।
2. प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अनुकूलन और आत्मसातीकरण के रूप में अनुवाद की व्यख्या कीजिए।
3. अनुवाद की मुगलकालीन परम्परा का विस्तार से उल्लेख कीजिए।

4. अनुवाद परम्परा के विकास में मुगल शासकों के योगदान की विवेचना कीजिए।
5. उपनिवेशकालीन भारतीय अनुवाद की परम्परा की विश्लेषणात्मक समीक्षा कीजिए।
6. उपनिवेशकालीन भारतीय अनुवाद परम्परा के राष्ट्रवादी स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।
7. स्वातन्त्र्योत्तरकालीन भारतीय अनुवाद की दिशा दशा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
8 अनुवाद विज्ञान है या कला–विभिन्न विचारकों के मत की समीक्षा करते हुए अपना मत प्रस्तुत कीजिए।
9. ज्ञान फलक के विस्तार में अनुवाद की भूमिका और आधुनिक काल में अनुवाद के फलक विस्तार पर अपनी राय दीजिए।

2.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- नगेन्द्र, (सं.), *अनुवाद विज्ञान,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय।
- तिवारी, भोलानाथ, *अनुवाद विज्ञान,* दिल्ली, शब्दकार।
- पालीवाल, रीतारानी, *अनुवाद की सामाजिक भूमिका,* दिल्ली, सचिन प्रकाशन।
- वधान, अमर सिंह, *अनुवाद और संस्कृति,* अहमदाबाद, त्रिवार्ण प्रकाशन।
- सिंहल, ओमप्रकाश, *अनुवाद से संवाद,* अहमदाबाद, अवनी प्रकाशन।
- J.C. Catford, *Linguistic Theory of Translation.*
- George Steiner, *After Babel: Aspects of Language & Translation*, OUP, New York & London, 1975.
- Peter Newmark, *Approaches to Translation.,* 1981.
- Sujit Mukherjee, *Translation as Discovery*, Orient Longman, Hyderabad, 1994.
- Tejswini Niranjana, *Sitting Translation.*, Hyderabad, Orient Longman.
- R. Raghunath Rao, *The Art of Translation,* Delhi, Bhartiya Anuvad Parishad.
- Susan Bassnett & Ande Lefvere, *Translation/History/Culture.,* Publishers, London, 1990.
- Susan Bassnett, *Translation Studies.*, Routledge, London & New York, 1988.
- Anuradha Dinwaney & Carol Maier, (Ed.), *Between Languages & Culture (Translation and Cross. Culture Texts)*, OUP, Delhi, 1996
- Spivak, Gayatri Chakraborty, *The Politics of Translation,* Routledge, London & New York, 1992/2000.
- Hardwick, Lorna, and St. Jerome, *Translating Words, Translating Culture*, Pub. Co. 2000.
- Moore, N. Cornelia and Lower, Lucy, *Translation East and West: A Cross.Cultural Approach*, University of Hawaii and East-West Centre.

इकाई 3 अनुवाद की चीनी परम्परा

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 अनुवाद की परिभाषाएँ

3.2.1 चुनौतियाँ

3.2.2 अच्छा अनुवाद

3.3 चीनी अनुवाद की आधारशिला

3.3.1 चीन में प्रारम्भिक दौर में अनुवाद

3.3.2 चीनी अनुवाद को स्वरूप प्रदान करने में संस्थापकों का योगदान

3.3.3 चीनी अनुवाद में आधुनिक साहित्यकारों का योगदान

3.3.4 पश्चिमी दुनिया के साथ चीनी सहयोग

3.3.5 चीनी अनुवाद पर विदेशी शैली का प्रभाव

3.3.6 अनुवाद में मातृभाषा का सवाल

3.4 आधुनिक चीन में अनुवाद

3.5 सारांश

3.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

यह इकाई अनुवाद की चीनी परम्परा से सम्बन्धित है। इस इकाई को पढ़ने से अनुवाद अध्ययन में एम. ए. करने वाले शिक्षार्थियों को अनुवाद की चीनी परम्परा की संक्षिप्त जानकारी मिलेगी। इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समझ पाएँगे कि :

- संचार का क्या महत्त्व है और इसने किस प्रकार अनुवाद का सैद्धान्तिक आधार तैयार किया।
- अनुवाद के परम्परागत तौर-तरीकों के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ और आधुनिक चीन में अनुवाद की दशा-दिशा की तुलनात्मक स्थिति क्या हैं?
- अच्छे और बुरे अनुवाद, तथा चीनी एवं अन्य विदेशी अनुवाद के बीच क्या अन्तर है?
- अनुवाद किस तरह कला और साहित्य का अंग है? देशी-विदेशी विद्वानों न किस तरह आधुनिक चीनी अनुवाद को समृद्ध किया?
- चीन में आधुनिक अनुवाद के तरीके किस हद तक सफल रहे?

3.1 प्रस्तावना

विदित है कि आज की साहित्यिक समृद्धि किसी एक व्यक्ति या किसी एक संस्था का अवदान नहीं, सम्पूर्ण सभ्यता की देन है। और, साहित्य एवं कला के विश्वव्यापी विशाल भण्डार के निर्माण में अनुवाद कार्य का महत् योगदान

है। इस दिशा में विश्व की दो प्राचीनतम सभ्यताओं—भारत तथा चीन के योगदान को भी हम भूल नहीं सकते। तथ्य है कि अनुवाद दो भाषाओं के बीच सम्वाद की एक प्रक्रिया है। इस सम्वाद का उचित सम्प्रेषण दो कारकों पर निर्भर करता है—संचार के साधन तथा इसमें शामिल लोग। सामान्य रूप में संचार का अर्थ है, विचारों, भावों और सूचनाओं का बोलकर, लिखकर या सांकेतिक रूप में सम्प्रेषण या आदान-प्रदान। एक व्यक्ति की विचार-प्रक्रिया को दूसरे व्यक्ति के मानस-पटल पर अंकित करने का ही दूसरा नाम अनुवाद है। यदि दूसरा व्यक्ति सम्प्रेषित बात को ठीक ढंग से समझ पाता है तो माना जाता है कि अनुवाद अच्छा है। यहीं भाषा का सवाल पैदा होता है। यदि किसी व्यक्ति की भाषा दूसरे की समझ में नहीं आती है तो सम्प्रेषण सम्भव नहीं।

भारत और चीन के बीच सम्बन्धों की शुरुआत उस वक्त हुई थी जब अमेरिका और यूरोप का जन्म भी नहीं हुआ था। हाँ, यूनान का अस्तित्व अवश्य था। स्वाभाविक है कि हम जानना चाहेंगे कि ये दोनों प्राचीनतम सभ्यताएँ कैसे एक दूसरे के नजदीक आईं और इनके बीच सम्पर्क कैसे स्थापित हुआ। हम यहाँ विशेष रूप से चीन में अनुवाद संस्कृति के शुरुआत की चर्चा करेंगे। हम जानेंगे कि इसकी शुरुआत कब और कैसे हुई, इसके पीछे कौन लोग थे और अनुवाद प्रक्रिया में उन्हें किन चुनौतियों का सामना करना पड़ा। लेकिन इसके पहले हमें संक्षेप में सम्प्रेषण की प्रकृति को समझना होगा, जिसके बिना अनुवाद कर्म सम्भव नहीं। हमें सम्प्रेषण के विभिन्न माध्यमों की विशेषताओं तथा उनके महत्त्व को समझना होगा।

सम्प्रेषण का अर्थ है एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सूचना पहुँचाना। सामान्यतः विचारों, भावों और सूचनाओं को बोलकर, लिखकर या संकेतों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने की प्रक्रिया को संचार या सम्प्रेषण कहते हैं। सम्प्रेषण या संचार वह प्रक्रिया है जिसमें सूचनाओं के पुंज को सम्प्रेषक किसी माध्यम द्वारा प्राप्तकर्ता को भेजता है। प्राप्तकर्ता इस सूचना का अर्थ ग्रहण करता है और सम्प्रेषक को फीडबैक देता है। इसके लिए संचार संबंधी कुछ साझे तत्व होते हैं, जिनके बिना सम्प्रेषण सम्भव नहीं। संचार का सबसे प्रभावी माध्यम भाषा है, जिसके जरिए सम्वाद सम्भव हो पाता है। दरअसल सम्वाद की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि लोग एक दूसरे को जानना चाहते हैं और इस जानकारी का उपयोग आने वाली पीढ़ियों के लिए करना चाहते हैं। आइए देखें कि सम्प्रेषण और सम्वाद का सर्वोत्कृष्ट तरीका क्या है।

संचार का सर्वोत्कृष्ट माध्यम वाचिक भाषा है। लेकिन एक भाषा से दूसरी भाषा में सम्वाद करने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। उदाहरण के लिए यदि आपकी बोलचाल की भाषा, हिब्रू है तो आप अपनी बात गैर-हिब्रू भाषी व्यक्ति को कैसे समझाएँगे? वाचिक भाषा को अन्य भाषा-भाषी व्यक्ति नहीं समझ पाता। बहुभाषिकता और देशों की बहुलता इस समस्या को और भी गम्भीर बना देती है। हमारी सभ्यता के सामने यह बहुत बड़ी चुनौती है। इस समस्या के समाधान हेतु आज संसार भर में लिखित-अनुवाद का सहारा लिया जाता है।

चीन की गिनती विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में होती है। ब्राह्मी, पालि, संस्कृत और बौद्ध लिपियों से चीनी भाषा में लम्बे समय से अनुवाद कार्य होता रहा था। भारत और चीन के बीच अनौपचारिक सम्बन्ध का आधार यही प्रक्रिया थी। भारत और चीन एक दूसरे को अनुवाद के माध्यम से ही जानते थे। शुरुआती दौर में बौद्ध-धर्म ही भारत और चीन के बीच सम्बन्धों का आधार रहा, क्योंकि इतिहास के उस दौर में भारत में बौद्ध-धर्म काफी मजबूत था। दोनों देशों के बीच धार्मिक आदान-प्रदान अनुवाद के माध्यम से ही जारी रहा। हम जानते हैं कि बौद्ध-धर्म भारत से ही चीन पहुँचा। भारतीय और जापानी बौद्ध-भिक्षुओं ने चीनी भाषा में बौद्ध-धर्मग्रन्थों का अनुवाद किया। इन्हीं के आधार पर चीन के लोगों को बौद्ध-धर्म की जानकारी प्राप्त हुई। ईसा पूर्व 200 में बौद्ध-धर्मग्रन्थों का अनुवाद पालि और संस्कृत से चीनी भाषा में किया गया। अनुवाद प्रक्रिया का यह शायद सबसे पुराना उदाहरण है। स्पष्ट है कि अनुवाद के लिए बौद्ध-भिक्षुओं को चीनी भाषा का ज्ञान अर्जित करना पड़ा होगा। इसी प्रक्रिया में चीनी लोगों ने भी पालि और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना शुरू किया, क्योंकि बौद्ध-धर्मग्रन्थ इन्हीं भाषाओं में लिखे गए थे। अनुवाद की इस प्रक्रिया में कई कठिनाइयाँ आईं, लेकिन चीनी विद्वानों ने विभिन्न देशों के विद्वानों के साथ मिलकर इस समस्या का समाधान किया। इस प्रकार अनुवाद के परम्परागत ढाँचे के आधार पर आधुनिक अनुवाद सिद्धान्त का विकास हुआ।

3.2 अनुवाद की परिभाषाएँ

3.2.1 चुनौतियाँ

सबसे पहले हम अनुवाद का अर्थ समझने और इस विषय में आधुनिक काल के पाश्चात्य विद्वानों की समझ जानने की कोशिश करते हैं। यहाँ हम यह भी देखेंगे कि पश्चिमी विद्वानों की राय ने किस प्रकार उन चीनी भाषाविदों तथा साहित्यकारों को प्रभावित किया जिन्होंने चीनी अनुवाद की नींव रखी।

अनुवाद का अर्थ है किसी पाठ के अर्थ के समतुल्य किसी अन्य भाषा में एक नया पाठ प्रस्तुत करना। जिस पाठ का अनुवाद किया जाता है उसे स्रोत-पाठ (Source Language–SL) तथा अनूदित पाठ को लक्ष्य-भाषा (Target Language–TL) कहा जाता है। अनूदित भाग को लक्ष्य-पाठ भी कहा जाता है। एक भाषा में दिए गए पाठ (स्रोत-पाठ) के समतुल्य पाठ (लक्ष्य-पाठ) की दूसरी भाषा में प्रस्तुति अनुवाद कहलाती है। अनुवाद का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना होता है कि दोनों पाठों द्वारा एक ही सन्देश सम्प्रेषित किया जा रहा है। इस कार्य की अनेक सीमाएँ हैं। पाठ के सन्दर्भ, दोनों भाषाओं के व्याकरण, लेखन संबंधी रूढ़ियाँ, मुहावरे आदि का खास ख्याल रखना होता है।

अनुवाद के लिए यह जरूरी है कि अनुवादक को दोनों भाषाओं का बारीक ज्ञान हो। यदि अनुवादक को दोनों में से किसी एक भाषा में आवश्यक न्यूनतम स्तर से कम जानकारी हो तो स्रोत-पाठ के मुहावरों और भाषिक शैलियों का गलत प्रयोग लक्ष्य-पाठ में परिलक्षित हो सकता है। अनुवाद का इहिास भी लिखित साहित्य के जितना ही पुराना है। एक भाषा में व्यक्त विचारों को दूसरी भाषा में व्यक्त करना ही अनुवाद का उद्देश्य है। अनुवाद को चाहे आप कला मानें, विज्ञान मानें, शिल्प मानें, अच्छे अनुवाद के लिए आवश्यक है कि लक्ष्य-पाठ वही सम्प्रेषित करे जो मूल-पाठ में निहित है। आगे बढ़ने के पहले हमें इस विषय में आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों की राय पर नजर डालना और अनुवाद-सिद्धान्त की चीनी समझ से इसकी तुलना करते हुए इसके क्रमिक विकास को देखना उचित होगा।

विल्स (सन 1982) कहते हैं–अनुवाद अन्तरण की प्रक्रिया है। इसका उद्देश्य है किसी लिखित स्रोत-पाठ को लक्ष्य-पाठ में परिवर्तित करना, जिसके लिए स्रोत-पाठ की व्यावहारिक समझ तथा विश्लेषणात्मक व्याख्या आवश्यक है।

नायडा (सन् 1984) का कहना है–अनुवाद की प्रक्रिया में मूल-भाषा के अर्थ एवं शैली दोनों का अन्तरण लक्ष्य-भाषा में किया जाता है। इसी प्रकार बेल (सन् 1991) कहते हैं कि अनुवाद का अर्थ है एक भाषा से दूसरी भाषा में अर्थ का अन्तरण।

स्पीवाक (सन् 1992) पठन के गहनतम आत्मीय स्वरूप के रूप में अनुवाद को देखती हैं। उनका मानना है कि जब तक अनुवादक स्वयं को एक गहन आत्मीय पाठक के रूप में स्थापित नहीं कर लेता है, तब तक पाठ के प्रति उसका समर्पण पूरा नहीं होता। यह समर्पण दो कारणों से आवश्यक है –

1. यह सुनिश्चित करने के लिए कि दोनों पाठों का प्राथमिक अर्थ एक ही हो, और
2. स्रोत-भाषा का मौलिक स्वरूप सुरक्षित रहे पर लक्ष्य-भाषा का स्वरूप विकृत न हो।

हूबर्ट (सन् 1998) के अनुसार अनुवाद वह प्रक्रिया है जिसमें स्रोत-भाषा में अभिव्यक्त सन्देश को भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार परिवर्तित किया जाता है कि लक्ष्य-भाषा के पाठक भी इसे समझ ले। थोड़ी भिन्न दृष्टि से देखते हुए नोगुइरा (सन् 1998) ने माना कि अनुवाद को सेवा-व्यवसाय के पर्याय के रूप में भी देखा जा सकता है।

लेकिन सुगिमोटो (सन् 2005) अनुवाद को ऐसे पोशाक के रूप में देखते हैं जो आखिरकार एक ही शरीर को ढकने के निमित्त बनाया गया है।

अनुवाद की संस्कृति को समझने के पहले हमें इसकी पृष्ठभूमि को समझना होगा और उस युग को जानना होगा जब इसकी शुरुआत हुई।

दो संस्कृतियों के बीच सम्वाद के रूप में टिआनमिन (सन् 2000) अनुवाद को देखते हैं और इस बात को रेखांकित करते हैं कि अनुवाद की प्रक्रिया में एक ही साथ सन्दर्भ-मुक्ति और नए सन्दर्भ की सृष्टि की जाती है। इसलिए अनुवाद की प्रक्रिया को उत्पादक प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए न कि प्रजनन प्रक्रिया के रूप में।

ऐतिहासिक रूप से चीन में अनुवाद सिद्धान्त का जन्म झाउ वंश (ई.पू. 11वीं सदी से ई.पू. 1221) के शासन-काल में राज्यों के बीच सम्पर्क की प्रक्रिया में हुआ। इसका विकास बौद्ध-धर्मग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद के साथ हुआ। इस सिद्धान्त के विकास में अनुवाद से सम्बन्धित सामान्य अनुभवों, खासकर चीनी भाषा में अनुवाद के अनुभवों का योगदान देखा जा सकता है। इसके विकास को चीनी साहित्यिक तथा बौद्धिक परम्परा की पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए।

क्विंग वंश (सन् 1664-1911) तथा गणतन्त्र काल (सन् 1912-49) के दौरान लिआंग कीशाओ, हू शी तथा झाऊ जुओरेन ने चीनी इतिहास के महान अनुवादकों द्वारा अपनायी गई अनुवाद प्रक्रिया और उनके द्वारा प्रतिपादित अनुवाद-सिद्धान्त पर विचार करना शुरू किया। हम इसके बारे में आगे विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे।

3.2.2 अच्छा अनुवाद

पाश्चात्य विचारकों ने अच्छे अनुवाद के कई लक्षण गिनाए हैं। फ्रांसीसी विद्वान एतीन दोले (सन् 1509-1546) की सलाह है कि अच्छे अनुवादक को शब्दशः अनुवाद के प्रलोभन से बचना चाहिए। उनके अनुसार शब्दशः अनुवाद से मूल-पाठ की गलत व्याख्या होने का खतरा होता है और इसकी संरचनागत सुन्दरता समाप्त हो जाती है। टाइटलर (सन् 1790) के अनुसार एक अच्छे अनुवाद में अनूदित पाठ की शैली और रवानगी मूल-पाठ जैसी ही होनी चाहिए।

सूटर (सन् 1920) का मानना है कि एक आदर्श अनुवाद पाठकों के दिमाग पर ठीक वैसा ही प्रभाव छोड़ता है जैसा मूल-पाठ ने अपने पाठकों के दिमाग पर छोड़ा था।

अच्छे अनुवाद के महत्त्व के बारे में बेट्स (सन् 1943) कहते हैं कि अच्छे अनुवाद के बिना कोई भी बात नहीं बनती... विचारों या प्रौद्योगिकी में परिवर्तन का प्रसार अनुवाद के बिना सम्भव नहीं। पर हर अनुवाद इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता। एडवर्ड्स (सन् 1957) ध्यान दिलाते हैं कि अनुवाद मूल-पाठ में निहित सत्य के करीब पहुँचने की कोशिश है। हम अधिक से अधिक मूल-पाठ के जैसा प्रभाव पैदा करने की कोशिश भर कर सकते हैं। नॉक्स (सन् 1957) भी कुछ इसी प्रकार की बात करते हैं और रेखांकित करते हैं कि अनुवाद को पढ़ने में भी वैसा ही आनन्द आना चाहिए जैसा कि मूल-पाठ को पढ़ने में आता है। इससे ऐसा लगता है कि एडवर्ड्स और नॉक्स दोनों ही अच्छे अनुवाद के लिए उसके मूल-पाठ के समतुल्य होना ही पर्याप्त समझते हैं।

शब्दशः अनुवाद को बर्टन (सन् 1973) पूर्णतः मिथ्या मानते हैं। लेकिन आज की दुनियाँ पूरी तरह से अनुवाद पर निर्भर है, भले ही वह शब्दशः अनुवाद ही क्यों न हो। शायद यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि अनुवाद के बिना हमारी दुनियाँ निर्मम रूप से संकीर्ण हो जाएगी।

न्यूमार्क (सन् 1988) भी शब्दशः अनुवाद को अच्छा नहीं मानते। उनका कहना है कि शब्दानुवाद अनुवाद की प्रक्रिया में पहला कदम है। एक अच्छा अनुवादक शब्दशः अनुवाद नहीं करता और हमेशा इससे बचना चाहता है।

इस सम्बन्ध में वारेन (सन् 2004) याद दिलाते हैं कि शैक्षणिक जगत में अनुवाद को हमेशा दोयम दरजे का काम माना जाता रहा, क्योंकि इसमें मौलिकता का अभाव रहता है। साहित्य के छात्र और शिक्षक अब भी मौलिकता को महत्त्व देते हैं। इसके बावजूद मध्यकालीन साहित्य और गैर-साहित्यिक लेखन में अनुवाद का व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है।

अनुवाद के शुरुआती दौर में चीन की स्थिति की चर्चा करते ही मा जिआनझोंग (सन् 1845-1900) का नाम याद आता है। वे ऐसे पहले चीनी विद्वान थे जिन्होंने अनुवाद के मानकों की चर्चा की है। अनुवाद में समतुल्यता की आधुनिक पश्चिमी अवधारणा की ही तरह उन्होंने अच्छे अनुवाद की बात की है। उनका मानना है कि उस काल में अनुवाद के घटिया स्तर का कारण अनुवादक की भाषा सम्बन्धी ज्ञान की कमी थी--या तो अनुवादक को चीनी

भाषा की जानकारी नहीं थी अथवा उसे अनुवाद के लिए आवश्यक विदेशी भाषा की जानकारी नहीं थी। दूसरी सम्भावना यह भी है कि चीनी भाषा की थोड़ी जानकारी रखने वाला कोई विदेशी व्यक्ति चीनी भाषा में बोलकर अनुवाद करता है जिसे चीनी श्रुतिलेखक लिख लेता है। जहाँ पर श्रुतिलेखक को बात समझ में नहीं आती, वह अपने अनुमान के आधार पर कुछ लिख लेता है...तो फिर इस बात में कैसा आश्चर्य कि अनुवाद प्रायः बेतरतीब दिखता है और इसमें गलतियों की भरमार पाई जाती है (लुओ 1984 में उद्धृत मा-1896)।

मा जिआनझौंग व्याकरण के विद्वान थे जो शास्त्रीय चीनी भाषा के विशेषज्ञ थे। उनके द्वारा लिखी गई व्याकरण की किताब काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। सन् 1894 में अनुवाद के अपने संस्थान की स्थापना के बाद उन्होंने अच्छे अनुवाद की तीन शर्तें गिनाई हैं–

1. अनुवादक को दोनों भाषाओं का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। उसे दोनों भाषाओं के बीच पाई जाने वाली समानताओं और भिन्नताओं की जानकारी होनी चाहिए।
2. अनुवादक को स्रोत-पाठ के अर्थ, शैली और आत्मा की समझदारी होनी चाहिए, और उस समझ को अनुवाद के क्रम में लक्ष्य-भाषा में उतारने की कला भी होनी चाहिए।
3. स्रोत-पाठ और लक्ष्य-पाठ के बीच कोई विरोधाभास नहीं, पूर्ण तारतम्य होना चाहिए।

मा ने अनुवादकों के लिए बड़े ही उच्च मानदण्डों की स्थापना की। ये मानदण्ड अच्छे अनुवाद के लिए आवश्यक भी हैं। फिर भी यान फू जैसे अन्य विद्वानों की तरह मा अनुवाद के क्षेत्र में उतना प्रभाव नहीं छोड़ पाए। शायद इसका एक कारण यह भी था कि मा व्याकरण के विद्वान थे और उन्होंने खुद कोई अनुवाद-कार्य नहीं किया। इस कारण लम्बे समय तक उनके अनुवाद सिद्धान्त की अवहेलना हुई।

3.3 चीनी अनुवाद की आधारशिला

3.3.1 चीन में प्रारम्भिक दौर में अनुवाद

चीन में अनुवाद कार्य के शुरुआती प्रमाण झाउ वंश के दौरान ई.पू. 1100 के आस-पास दिखाई देते हैं। उस काल के दस्तावेजों से जाहिर होता है कि अनुवाद का कार्य सरकारी मुलाजिम किया करते थे। इसका मकसद विचारधारा का प्रसार था। झाउ वंश के एक दस्तावेज में कहा गया है कि 'अर्थ में बदलाव किए बिना एक लिखित भाषा को दूसरी भाषा में परिवर्तित करना अनुवाद है।' सरल होते हुए भी यह परिभाषा साबित करती है कि प्राचीन चीन में अनुवाद-सिद्धान्त विद्यमान था।

चीन में मानव सभ्यता का इतिहास पाँच हजार साल पुराना है, जबकि अनुवाद का इतिहास तीन हजार साल पुराना। हान वंश (ई.पू. सन् 206 से सन् 220) के दौरान अनुवाद विदेशी ज्ञान के प्रचार-प्रसार का साधन बना। बौद्ध-धर्म की शुरुआत भारत में हुई, पर चीन में इसकी जानकारी नहीं थी। चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार-प्रसार पहली शताब्दी के मध्य में शुरू हुआ। इसलिए संस्कृत तथा पालि में लिखे गए बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद की जरूरत महसूस होने लगी।

पाँचवीं सदी में बौद्ध धर्म की पुस्तकों के चीनी भाषा में अनुवाद की शुरुआत वहाँ के शासकों के आदेश से शुरू हुआ। इसके लिए एक राजकीय अनुवाद संस्था का निर्माण किया गया। राजा की ओर से दाओ ए'न को इस संस्थान का निदेशक नियुक्त किया गया। दाओ ए'न बौद्ध धर्म ग्रन्थों के शब्दानुवाद के घोर हिमायती थे, क्योंकि वे संस्कृत बिल्कुल ही नहीं जानते थे। उन्होंने कश्मीर में जन्मे प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु कुमारजीव (सन् 350-410) को बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अनुवाद करने तथा इस कार्य की देखभाल के लिए अपने अनुवाद संस्थान में बुलाया। कुमारजीव ने पहले किए गए संस्कृत सूत्रों के अनुवादों का गहन अध्ययन किया और इनके अनुवाद के सिद्धान्तों को परिष्कृत किया। उन्होंने अनुवाद में शुद्धता को बहुत महत्त्व दिया। इसलिए उन्होंने संस्कृत सूत्रों के असली भाव को चीनी भाषा में व्यक्त करने के लिए मुक्त-अनुवाद की विधा को अपनाया। चीन में अनुवाद के इतिहास में कुमारजीव पहले

व्यक्ति थे जिन्होंने सुझाया कि अनुवादक को अनूदित पाठ पर अपने हस्ताक्षर अंकित करने चाहिए। कुमारजीव ने स्वयं अनेक संस्कृत सूत्रों का अनुवाद किया। उनके आगमन से चीन के अनुवाद संस्थान ने काफी विकास किया। अनुवाद के बल पर ही बौद्ध-धर्म ने ताओवाद को गंभीर चुनौती दी। कुमारजीव के समय से शुरू हुई अनुवाद की परम्परा धीरे-धीरे आठवीं सदी तक मजबूत बनती गई और संस्कृत सूत्रों का अनुवाद और भी बेहतर होता चला गया।

3.3.2 चीनी अनुवाद को स्वरूप प्रदान करने में संस्थापकों का योगदान

सुइ वंश (सन् 581-618) से शुरू होकर तांग वंश (सन् 618-907) के बीच अनुवाद और विदेशों से ज्ञान के आदान-प्रदान का सिलसिला जारी रहा। इस काल में अनुवाद का कार्य मुख्य रूप से बौद्ध-भिक्षुओं ने किया। उन्हें न केवल संस्कृत का अच्छा ज्ञान था, बल्कि वे अनुवाद-सिद्धान्त को भी बखूबी समझते थे। चूँकि उस काल में मुख्य रूप से बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद किया जाता था, इसलिए अनुवाद के सम्बन्ध में उनकी कुछ प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार थीं–

1. इन्हें बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का सही निरूपण करना चाहिए
2. इससे बौद्ध-धर्मावलम्बियों को लाभ होना चाहिए
3. अनुवाद का मुख्य उद्देश्य बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का प्रसार होना चाहिए न कि अनुवादकों की अपनी प्रसिद्धि की चाहत।

अनुवाद के प्रथम शिखर-काल के दौरान तांग वंश के प्रख्यात बौद्ध-भिक्षु जुआन जैंग (सन् 600-664) एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व थे। सन् 628 में वे पवित्र ग्रन्थों की खोज में भारत की यात्रा पर निकले और सन् 645 में वहाँ से बुद्ध के स्मृति-चिह्न, स्वर्ण प्रतिमाएँ, संस्कृत की 124 टीकाएँ तथा 520 पाण्डुलिपियाँ लेकर वापस चीन लौटे। इस खजाने को ढोने के लिए 22 घोड़ों की आवश्यकता पड़ी थी। तत्कालीन राजा ताइ जोंग ने उनका शाही स्वागत किया। राजा ने उनकी सुख-सुविधा का पूरा इन्तजाम किया और चांगान में उनके लिए प्रसिद्ध पैगोडा 'ग्रेट वाइल्ड-गूज पैगोडा' बनवाया। जुआंग-जांग ने अपना बाकी जीवन इसी खूबसूरत पैगोडा में बिताया और अपने सहयोगियों के साथ मिलकर भारत से लाए गए धर्म-ग्रन्थों के अनुवाद का काम किया। उन्नीस वर्षों में उन्होंने बौद्ध-धर्म के 1335 ग्रन्थों का अनुवाद किया। इन अनुवादों ने चीन में बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार में मदद की। वहाँ के राजा ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

जुआन जांग ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने चीनी भाषा से अन्य भाषाओं में भी अनुवाद किया। उन्होंने ताओ धर्म के जनक झी की रचनाओं का संस्कृत में अनुवाद किया, कुछ अन्य शास्त्रीय चीनी ग्रन्थों का अनुवाद भी संस्कृत में करने का प्रयत्न किया।

जुआन जांग न केवल एक महान अनुवादक थे बल्कि वह अनुवाद के एक महान सिद्धान्तकार भी थे। अनुवाद सिद्धान्त में उनके योगदान को आज भी महत्त्व दिया जाता है। अनुवाद के सम्बन्ध में प्रसिद्ध सिद्धान्त सबसे पहले जुआन जांग ने ही प्रतिपादित किया कि 'अनुवाद को न केवल मूल-पाठ का सच्चा बिम्ब होना चाहिए बल्कि इसे पढ़ने वालों के लिए सहज ग्राह्य भी होना चाहिए।' एक अर्थ में इस सूत्र द्वारा जुआन जांग ने एक ही साथ सहजानुवाद और शाब्दानुवाद की विशेषताओं को समेटने की कोशिश की है। जुआन जांग के पहले सुइ वंश के दौरान दाओ ए'न शब्दानुवाद के बड़े हिमायती थे, उनका मानना था कि मूल-पाठ का अनुवाद शब्दशः किया जाना चाहिए। तांग वंश (सन् 618-907) के दौरान कुमारजीव ने ठीक इसके विपरीत मान्यता पर काम किया। उनका मानना था कि लक्ष्य-भाषा में अनुवाद के लिए सहजानुवाद की प्रणाली ही श्रेष्ठ है क्योंकि इससे भाषा की सुन्दरता बची रहती है और इसे समझना भी आसान रहता है। जुआन जांग ने इन दोनों विपरीत धाराओं की खूबसूरती को समेटने की कोशिश की और अनुवाद के इस ऐतिहासिक प्रस्तावना की नींव डाली जिसमें अनुवाद को मूल-पाठ के सच्चे बिम्ब होने के साथ इसकी सुग्राह्यता को भी आवश्यक माना गया। वे पहले चीनी अनुवादक थे जिन्होंने विश्लेषण, शब्द-लोप, लक्ष्य-भाषा से समतुल्य मुहावरों की खोज जैसे अनुवाद की तकनीकों का प्रयोग किया। चीन

के इतिहास में उन्हें सही अर्थों में अनुवादक का दर्जा प्राप्त है, जिन्होंने अनुवाद कार्य और अनुवाद सिद्धान्त दोनों को ही समृद्ध बनाने में बड़ा योगदान दिया।

आजकल ऐसा माना जाता है कि जुआन जांग का काल दाओ ए'न तथा कुमारजीव की तुलना में अनुवाद की दृष्टि से एक नवीन काल था; क्योंकि इस काल में अनुवाद का कार्य चीनी बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा किया गया, जिन्होंने देशान्तर जाकर हिन्दी की शिक्षा ली थी। अपने लम्बे अध्ययन के बल पर इन बौद्ध-भिक्षुओं ने न केवल धर्म-ग्रन्थों का गहरा ज्ञान प्राप्त किया बल्कि दोनों भाषाओं पर उन्हें अधिकार प्राप्त था। इसके विपरीत दाओ ए'न तथा कुमारजीव के काल में बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अनुवाद मुख्यतः भारतीय भिक्षुओं ने किया था जिन्हें चीनी भाषा और संस्कृति के बारे में सीमित जानकारी ही थी। परिणामस्वरूप उनके अनुवाद में प्रवाह की कमी दिखाई देती है।

चीनी अनुवाद के सहस्राधिक वर्षों के इतिहास में अनेक साहित्यिक विभूतियों ने योगदान किया। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण लोगों के नाम की सूची नीचे दी जा रही है; इससे इनकी कालावधि सहित अनुवाद के क्षेत्र में इनके योगदान को हम बेहतर तरीके से समझ सकें। इसी क्रम में इन साहित्यिक विभूतियों की रचनाओं का परिचय भी दिया जा रहा है। ये सारी साहित्यिक कृतियाँ मुख्यतः अनुवाद पर आधारित रही हैं और इन्होंने अनुवाद सिद्धान्त की नींव रखने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके साथ ही इन लेखकों के जीवन दर्शन के बारे में भी जानना जरूरी होगा। इन साहित्यिक विभूतियों की सूची इस तरह है—

झी किआन	(तीसरी सदी)
दाओ ए'न	(सन् 314-385)
कुमारजीव	(सन् 344-413)
हुइयुआन	(सन् 334-416)
सेनग्रुई	(सन् 371-438)
सेनग्यू	(सन् 445-518)
जुआनजांग	(सन् 600-664)
दाओजुआन	(सन् 596-667)
लु शुन	(सन् 1881-1936)
यान फू	(सन् 1854-1921)
लिआंग किशाओ	(सन् 1920)
लिन युतांग	(सन् 1933)
एइ सीकी	(सन् 1937)
झाउ जुओरेन	(सन् 1944)
झू गुआंगकिआन	(सन् 1944)
फू लेइ	(सन् 1951)
किआन झोंगशू	(सन् 1964)

झी किआन : झी किआन द्वारा बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के किए गए अनुवाद सुन्दर और साहित्यिक हैं।

दाओ ए'न : दाओ ए'न ने अनुवाद-प्रक्रिया में होने वाले गुणवत्ता के ह्रास की ओर ध्यान दिलाया। उनके सिद्धान्त में पाँच प्रकार के ह्रास की चर्चा की गई है। शब्दों का क्रम कई तरह की उलझनें पैदा करता है। संस्कृत में शब्द-क्रम का महत्त्व नहीं है, इसमें प्रायः कर्ता-कर्म-क्रिया वाला क्रम अपनाया जाता है जबकि चीनी भाषा में कर्ता-क्रिया-कर्म

वाला शब्द-क्रम अपनाया जाता है। दाओ ए'न ने अनुवाद के दौरान मूल पाठ में होनेवाले ह्रास के लिए अनुवादकों की आलोचना की है। उन्होंने सवाल उठाया कि ऐतिहासिक महत्त्व के शास्त्रीय ग्रन्थों से अनुवाद के समय उबाऊ प्रसंग को हटा दिया जाए तो कैसा लगेगा?

कुमारजीव : कुमारजीव ने अपने शिष्य सेनग्रुई द्वारा किए गए अनुवाद heaven sees man, and man sees heaven (अर्थात स्वर्ग मनुष्य का दर्शन करता है और मनुष्य स्वर्ग का दर्शन करता है) की आलोचना की। उन्होंने कहा कि man and heaven connect the two able to see each other (अर्थात् मनुष्य और स्वर्ग एक दूसरे से जुड़े हैं और दोनों एक दूसरे को देख सकते हैं) कहना अधिक मुहावरेदार होगा।

एक अन्य प्रसंग में कुमारजीव संस्कृत पाठ के अनुवाद की समस्या के बारे में बात करते हैं। मूल-पाठ में भाषा के सौन्दर्य पर ध्यान दिया गया है, लेकिन अनुवाद में यह सौन्दर्य और साहित्यिकता कहीं खो जाती है। कुमारजीव अनुवाद प्रक्रिया की तुलना चावल को चबाकर किसी अन्य व्यक्ति को खिलाने से करते हैं।

हुइयुआन : हुइयुआन ने अनुवाद के मध्यममार्ग सिद्धान्त का निष्पादन किया। उनका मानना था कि एक सहज अनुवाद भाषा को मूल-पाठ के शब्दार्थ से आगे पहुँचा देता है। हुइयुआन ने इस तथ्य को रेखांकित किया कि शब्दों को, मूल-पाठ के अर्थ को विकृत नहीं करना चाहिए। एक अच्छा अनुवादक मूल-पाठ की आत्मा को बचाने की कोशिश करता है।

सेनग्रुई : सेनग्रुई ने वस्तुओं के नाम के अनुवाद की समस्या पर विचार किया। शास्त्रीय अनुवाद परम्परा में नामों को उनके शुद्ध रूप में लिखने की समस्या महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। सेनग्रुई ने नामों के अनुवाद में असावधानी बरतने के लिए अपने गुरु कुमारजीव की आलोचना की। सेनग्रुई का कहना था कि कुमारजीव को इस बात की जानकारी नहीं थी कि चीनी भाषा में नाम वस्तुतः सारतत्व से जुड़े होते हैं।

सेनग्यू : सेनग्यू सौन्दर्यपूर्ण और सादे अनुवाद के बीच वाले अनुवाद की वकालत करते हैं। लेकिन हुइयुआन के विपरीत सेनग्यू कुमारजीव के सौन्दर्यपूर्ण अनुवाद की प्रशंसा करते हैं।

जुआनजांग : जुआनजांग ने भारत आकर धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया था। उनके अनुवाद-सिद्धान्त में पाँच प्रकार के शब्दों की चर्चा की गई है। उन्होंने कहा कि जिनका अनुवाद सम्भव नहीं है, संस्कृत के ऐसे शब्दों को यथावत रखा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए संस्कृत कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों का अनुवाद सम्भव नहीं है, इसलिए इन्हें यथावत रखा जाना चाहिए। दूसरा उदाहरण जामुन के वृक्ष का है, जो चीन में नहीं पाया जाता है। इस प्रकार के शब्दों को यथावत रखा जाना चाहिए।

3.3.3 चीनी अनुवाद में आधुनिक साहित्यकारों का योगदान

लू शुन : उनका जन्म 25 सितम्बर 1881, मृत्यु 19 अक्टूबर 1936 में हुआ। लू शुन उनका तखल्लुस (उपनाम) था। उनका असली नाम झाउ शूरेन था। अनुवाद के बारे में उनकी सबसे प्रसिद्ध उक्ति है कि मैं मूल-पाठ के प्रति वफादार होना पसन्द करूँगा न कि प्रवाहपूर्ण होना। लू शुन को 20वीं सदी के महान चीनी लेखकों में शामिल किया जाता है। उन्हें आधुनिक चीनी साहित्य की बुनियाद रखने वाले साहित्यकार के रूप में भी जाना जाता है। उन्होंने चीनी लोकभाषा *बैहुआ* में भी साहित्य की रचना की और शास्त्रीय चीनी में भी। लू शुन एक ही साथ कथा लेखक, सम्पादक, अनुवादक, आलोचक, निबन्धकार और कवि के रूप में जाने जाते थे। सन् 1936 में उन्हें शांघाई में वामपन्थी लेखकों के चीनी संघ का अध्यक्ष भी बनाया गया।

4 मई 1949 के आन्दोलन के उपरान्त चीन में लू शुन की रचनाओं का गहरा प्रभाव पड़ा दिखाई पड़ता है, इस तथ्य की स्वीकृति के तौर पर सन् 1949 के बाद चीन के कम्युनिस्ट शासन ने उन्हें देवतुल्य दर्जा प्रदान किया। स्वयं माओत्से तुंग आजीवन लू शुन की रचनाओं के प्रशंसक बने रहे। हालाँकि लू शुन स्वयं वामपन्थी रुझान के थे, उन्होंने औपचारिक रूप से कभी भी कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता स्वीकार नहीं की। वे कुल मिलाकर उदारवादी थे। लू शुन की रचनाएँ याँग हिएन यी तथा ग्लैडिस याँग द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवादों के कारण लोगों को उपलब्ध हुईं।

यान फू : यान फू अनुवाद में स्पष्टता एवं सहजता के सिद्धान्त के प्रतिपादक के रूप में जाने जाते हैं। इस सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यदि मूल-पाठ की शैली सहज नहीं हो तो भी क्या अनुवाद को सहज होना चाहिए?

लिआंग किशाओ : लिआंग किशाओ ने अच्छे अनुवाद के लिए तीन गुण बताए—अनूदित पाठ को मूल पाठ का सच्चा प्रतिबिम्ब होना चाहिए, इसमें स्पष्टता होनी चाहिए और अन्त में इसे सहज-सुन्दर होना चाहिए।

लिन युतांग : लिन युतांग ने मूल-पाठ, पाठक तथा कला के प्रति अनुवादक के दायित्व की चर्चा की है। इन कर्तव्यों के पालन के लिए अनुवादक को मूल पाठ के प्रति सत्यता, प्रवाहपूर्णता तथा सुन्दरता के मानकों को पूरा करना चाहिए।

एइ सीकी : मूल-पाठ के प्रति सत्यता, स्पष्टता और सहजता के बीच सम्बन्ध की व्याख्या एइ सीकी ने पाश्चात्य ज्ञान-मीमांसा के आधार पर की। उन्होंने कहा कि अनुवाद को मूल-पाठ के प्रति विश्वसनीय तो होना ही चाहिए, इस सच्चे प्रतिबिम्ब में स्पष्टता और सहजता का गुण भी होना चाहिए।

झाउ जुओरेन : झाउ जुओरेन की मान्यता है कि एक अच्छे अनुवाद में 50 प्रतिशत अंक मूल-पाठ के प्रति सत्यता, 30 प्रतिशत स्पष्टता और 20 प्रतिशत अंक सहजता के आधार पर दिया जाना चाहिए।

झू गुआंगकिआन : झू का मानना था कि अनूदित पाठ में मूल-पाठ का शत-प्रतिशत प्रतिबिम्ब उतारने की कोशिश एक आदर्श है जिसे पूर्णरूपेण लागू कर पाना सम्भव नहीं। हम केवल इसके करीब पहुँचने की कोशिश भर कर सकते हैं। यह दाओवादी दर्शन के परम्परागत विचार के करीब जान पड़ता है, जिसमें अपने मूल-स्वरूप की ओर लौटने की बात की गई है।

फू लेइ : फू लेइ का मानना था कि अच्छा अनुवाद पेण्टिंग की तरह होना चाहिए जिसमें सतही तौर पर एकरूपता के बजाय आत्मिक-साम्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

3.3.4 पश्चिमी दुनिया के साथ चीनी सहयोग

सन् 1723 में विदेशी धर्म-प्रचारकों के निष्कासन के साथ ही चीनी भाषा में अनुवाद की प्रक्रिया थम-सी गई। पर चीन पर अंग्रेजों के हमले (सन् 1840-42) और इसके बाद अमेरिकी, फ्रांसीसी एवं जर्मन धर्म-प्रचारकों के आने के साथ ही यह प्रक्रिया एक बार फिर शुरू हुई। शुरुआती दौर में इन धर्म-प्रचारकों ने मुख्यतः वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी सम्बन्धी अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे चीनी तथा विदेशी विश्वविद्यालयों में शिक्षित चीनी अनुवादकों ने पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार का कार्य शुरू कर दिया।

चीनी गणितज्ञ ली शानलन (सन् 1811-1882) इस काल के अग्रगण्य विद्वान थे। उन्होंने अंग्रेज मिशनरी अलेक्जेण्डर वाइलीस (सन् 1815-1877) के साथ मिलकर कलन गणित (differential calculus अर्थात् अवकलन and integral calculus अर्थात् समाकलन) सम्बन्धी पुस्तकों का अनुवाद किया। चीनी गणितज्ञ हुआ हेंगफांग (सन् 1833-1902) तथा अंग्रेज मिशनरी जॉन फ्रायर (सन 1839-1928) ने मिलकर इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका से सम्भाव्यता (probability) वाले अध्याय का चीनी भाषा में अनुवाद किया। अनुवाद किस प्रकार ज्ञान के उत्पादन और प्रसार में योगदान करता है इसका यह एक उदाहरण है। इस अनुवाद ने आधुनिक गणितीय सिद्धान्तों का प्रसार तो सम्भव किया ही, इस विषय में शोध को भी इसने बढ़ावा दिया।

चीन में भूगर्भ विज्ञान की शुरुआत भी अनुवाद पर आधारित थी। अफीम युद्ध के दौरान एक चीनी अधिकारी लिन जेजू ने मरे ह्यू के भूगोल के इनसाइक्लोपीडिया के कुछ हिस्सों का अनुवाद चीनी भाषा में किया जिसका प्रकाशन सन् 1836 में हुआ। यह उस समय विश्व-भूगोल पर सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में गिनी जाती थी। उन्हें औषध-विज्ञान सम्बन्धी रचनाओं के अनुवाद और प्रसार के लिए अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया।

3.3.5 चीनी अनुवाद पर विदेशी शैली का प्रभाव

चार मई के आन्दोलन के साथ ही चीन में लोकतान्त्रिक क्रान्ति के नए दौर की शुरुआत हुई। इसी के साथ चीनी अनुवाद के इतिहास के एक नए अध्याय की शुरुआत होती है। अनुवाद के इस जोशीले दौर में कार्ल मार्क्स (सन् 1818-1883) तथा लेनिन (सन् 1870-1922) की समाजवाद सम्बन्धी पुस्तकों का अनुवाद किया गया। साथ ही पश्चिमी साहित्य का भी अनुवाद चीनी भाषा में किया गया।

मार्क्स तथा एंजेल्स रचित *द कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो* (सन् 1848) का चेन वांग्डो द्वारा किया गया चीनी अनुवाद अप्रैल 1919 में प्रकाशित हुआ। जुलाई 1921 में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के बाद भारी संख्या में समाजवादी तथा कम्युनिस्ट सिद्धान्त से सम्बन्धित किताबों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। सन् 1930 में मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की कार्ल मार्क्स रचित महान पुस्तक *दास कैपिटल* (1859) का अनुवाद चेन किजिउ ने किया। इसके अगले साल गुओ मूरो ने मार्क्स की ही एक अन्य पुस्तक *क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनोमी (1852)* का अनुवाद चीनी भाषा में किया।

अनुवाद के बारे में चीनी तथा पाश्चात्य अवधारणाओं की तुलना करते हुए लेफेवेयर (सन् 1998) कहते हैं कि चीनी परम्परा में अनुवाद के सामूहिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है जबकि पश्चिम में इस अवधारणा को हेय दृष्टि से देखा जाता है। विदेशी और चीनी अनुवादकों के बीच आपसी सहयोग ने बेशक चीनी भाषा में अनुवाद की परम्परा को आगे बढ़ाने में बड़ी मदद की। अनुवाद की सहयोग आधारित यह शैली बड़ी मजेदार थी। इस प्रक्रिया में चीनी अनुवादक केवल लिपिक का काम करते थे। चीनी भाषा जानने वाले विदेशी वक्ता से अनुवाद को सुनकर वे इसे चीनी भाषा की शैली में रूपान्तरित करते थे। वैज्ञानिक अनुवादों के मामले में तो अनुवाद करने वाला वक्ता इस लिखित सामग्री की कोई जाँच नहीं करता था। लेकिन धार्मिक विषयों के अनुवाद की जाँच अनुवादकर्ता द्वारा सरसरी तौर पर की जाती थी (हनान, 2001)। प्रायः यह प्रत्यक्ष अनुवाद और प्रतिलोम अनुवाद का एक मिला-जुला स्वरूप होता था और इसीलिए अनुवाद की दिशात्मकता के बारे में कोई गम्भीर चर्चा नहीं होती थी। विदेशी अनुवादक इस प्रक्रिया में मुख्य भूमिका निभाते थे और चीनी अनुवादक केवल सहायक के तौर पर काम करते थे जिन्हें अनुवाद में हस्तक्षेप करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। इसलिए चीनी अनुवाद के गैर आधुनिक काल में अनुवाद-प्रक्रिया में मातृभाषा सिद्धान्त के प्रयोग की ज्यादा गुंजाइश नहीं बचती थी।

लेकिन 19वीं सदी के अन्तिम कुछ वर्षों में परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गईं। यह काल आधुनिक चीनी अनुवाद काल (हुंग, 1999) कहा जाता है। इस काल की शुरुआत सन् 1917 के नव-साहित्यिक आन्दोलन के साथ हुई और इसकी समाप्ति सन् 1937 के चीन-जापान युद्ध (जिसे ***मई 4 काल*** भी कहा जाता है) के साथ मानी जाती है। यह काल आधुनिक चीनी अनुवाद के लिए निर्णायक काल था। इस काल में पश्चिमी विचारों का भी चीन में तेजी से आगमन हुआ। सन् 1980 में देंग शिआओपिंग के सत्ता सँभालने के बाद तथाकथित पाँचवीं पीढ़ी के चीनी अनुवादकों द्वारा बड़ी मात्रा में अनुवाद कार्य किया गया। इस काल में अनुवाद के लिए सामग्री विशेष तौर पर यूरोप और अमेरिका से आई थी। ध्यान देने की बात है कि इसके पहले चीनी भाषा में अनुवाद के लिए सामग्री तत्कालीन सोवियत संघ से प्राप्त होती थी। इस काल को सुधारवादी काल या माओ के बाद का काल कहा जा सकता है। इसके पहले का काल *उत्तर-क्विंग काल* कहलाता है। इन दोनों काल-खण्डों में अनुवाद का काम तो बड़ी मात्रा में हुआ ही, अनुवादकों, विद्वानों और शिक्षाविदों ने अनुवाद के अनेक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया। पिछले बीस सालों में अनुवाद अध्ययन को संस्थागत स्वरूप मिला है और अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के साथ ही अनुवाद के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक नजरिया भी बदला है। कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वर्तमान दौर अनुवाद में एक नई क्रान्ति का दौर है।

लेकिन अनुवाद के आधुनिक दौर की शुरुआत ***मई 4 काल*** के बाद ही मानी जाती है। इस काल में अनुवाद ने चीन में आधुनिकतावाद के प्रसार की शुरुआत की। हालाँकि आधुनिकता को परिभाषित करना आसान नहीं है, वर्तमान में आधुनिकता को एक ऐसे अन्तराल के रूप में देखा जाता है जो विश्व को अनेक स्वरूपों में देखना सम्भव बनाता है। लेकिन चीन के सन्दर्भ में आधुनिकता का अर्थ है सतत परिवर्तनशील एक परियोजना जो संस्कृतियों के बीच आपसी सम्वाद और आदान-प्रदान के असमान परिवेश में विकसित हुआ। परन्तु इस बात से इनकार नहीं

किया जा सकता कि पिछले बीस सालों में अनुवाद के जिन नए सिद्धान्तों का विकास हुआ है वह पूर्वकाल की तुलना में निश्चित रूप से अधिक रोमांचकारी है।

लोगों के बीच इस विषय में गहरे मतभेद थे कि क्या अनुवाद की प्रक्रिया में सांस्कृतिक और भाषागत विभिन्नताओं को बरकरार रखा जाना चाहिए? क्या भाषा के स्तर पर यूरोपीय संरचनाओं तथा अभिव्यक्तियों को अपनाया जाना चाहिए? क्या अनुवाद को मूल-पाठ के प्रति विश्वसनीय होना जरूरी है या फिर भाषा के प्रवाह को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए?

चीन में ऐसी मान्यता थी कि पाश्चात्य ज्ञान से सुधारवादी विचारों को बल मिलेगा। इस कारण चीन में सुधारवादी साहित्य का भारी पैमाने पर अनुवाद हुआ। हुंग (सन् 1999) ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि 20वीं सदी के शुरुआती दौर में चीन में अनुवाद सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण बातें घटित हुईं—पहली बात तो यह थी कि अनुवादकों को अचानक ही ख्याति मिलने लगी और दूसरी बात यह कि चीन में भारी संख्या में स्थानीय अनुवादकों की बाढ़ आ गई। मा एट अल (सन् 2006) लिखते हैं कि लोगों में बदलाव लाने और देश को बचाने के मकसद से सुधारवादी विचारक पश्चिमी तथा जापानी रचनाओं के अनुवाद को बहुत महत्त्व देते थे। सन् 1902 से 1910 के बीच मंचू प्रशासन ने बड़ी संख्या में चीनी छात्रों को पढ़ने के लिए विदेश भेजा। इनमें से सर्वाधिक, तकरीबन 5000 छात्र, जापान भेजे गए थे। विदेशी भाषा बोलने वाले इन युवा विद्वानों तथा विशेषज्ञों ने चीन में पाश्चात्य ज्ञान के विकास में जो भूमिका निभाई उसके महत्त्व को कम करके आँकना उचित नहीं होगा (मा एट अल, 2006)।

दूसरी ओर जैसे-जैसे स्थानीय अनुवादकों की संख्या बढ़ी, चीनी भाषा में काम करने वालों की संख्या भी बढ़ती चली गई। हालाँकि अब तक मातृभाषा का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हो पाया था, यह अकारण ही स्वीकार किया जाने लगा कि अनुवादकों को हमेशा अपनी मातृभाषा में ही काम करना चाहिए। आगे की चर्चा में यह बात और भी स्पष्ट होगी।

मा जिआनझोंग (सन् 1845-1900) पहले चीनी विद्वान थे जिन्होंने अनुवाद के मानदण्डों की बात की। उन्होंने अच्छा अनुवाद उसे माना जो पश्चिम के समतुल्यता सिद्धान्त के समकक्ष हो (चेन 1992)। उनका कहना था कि उनके समय में अनुवाद का स्तर निम्न होने का कारण अनुवादक का भाषा ज्ञान निम्न होना था।

मा ने सुझाव दिया कि अनुवाद प्रशिक्षण के लिए एक औपचारिक केन्द्र की स्थापना की जाए जिसमें अनुवादकों को दोनों ही भाषाओं का प्रशिक्षण दिया जाए। उनका मानना था कि इस केन्द्र में चार या पाँच ऐसे लोगों को भी भर्ती किया जाए जो शास्त्रीय चीनी भाषा के विशेषज्ञ हों। इनका मुख्य कार्य अनुवाद को निखारना होगा (लुओ 1984 में उद्धृत, मा 1896)। इस वक्तव्य के माध्यम से मा यह सन्देश देना चाहते थे कि अनुवाद केवल चीनी भाषा में ही किया जाना चाहिए, जो कि अनुवादक की मातृभाषा है। मा का यह लेख परम्परागत चीनी अनुवाद सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तो है ही (चेन 1992, झी 1999), यह चीन के अनुवाद-इतिहास में एक मील का पत्थर भी है क्योंकि इससे यह बात साबित होती है कि आधुनिक चीनी अनुवाद परम्परा के भीतर मातृभाषा सिद्धान्त की शुरुआत हो चुकी थी।

यान फू (सन् 1854-1921) पहले अनुवाद-सिद्धान्तकार थे जिन्होंने कहा कि अनुवादक को केवल अपनी मातृभाषा में काम करना चाहिए। अनुवाद की अपनी पुस्तक *टिआनयन लुन (विकास के विषय में)* में उन्होंने अनुवाद के तीन मूल-सिद्धान्तों की नींव रखी। ये थीं – विश्वसनीयता, संचार और सौन्दर्य। अनुवाद के बारे में यान फू के इस मन्त्र को चीनी अनुवादकों द्वारा अनुवाद के 'स्वर्णिम नियम' के रूप में स्वीकार किया जाता है (हुंग तथा पोलार्ड, 1998)। बहुत जल्द यान फू की ख्याति विश्वविद्यालयों में फैल गई और उन्हें पाश्चात्य ज्ञान को समझने वाले व्यक्ति के रूप में जाना जाने लगा। उन्होंने लिखा कि अच्छे अनुवादक को मूल-पाठ की गहरी समझ होनी चाहिए।

चीन के महान रचनाकार लु शुन ने 14 देशों की 200 से भी अधिक साहित्यिक कृतियों का अनुवाद किया। क्यू कुइबाइ के साथ उन्होंने जो पत्राचार किया, उसने अनुवाद सिद्धान्त को विकसित करने में बड़ी मदद की। सदी के पहले दशक में उन्होंने गैर-जिम्मेवार अनुवाद के खिलाफ एक बड़ी मुहिम चलाई। उन्होंने अनुवाद की विश्वसनीयता पर बहुत बल दिया। उनका मानना था कि अनुवाद एक रचनात्मक कार्य है लेकिन यह साहित्यिक रचना से अलग होता है। दरअसल अनुवाद की महत्ता इसी बात में है कि यह मूल-पाठ के प्रति कितना विश्वसनीय

है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अनुवाद का उद्देश्य चीन की जनता को विदेशी संस्कृति एवं सामाजिक जीवन से अवगत कराना है।

3.3.6 अनुवाद में मातृभाषा का सवाल

यान फू ने सबसे पहले इस बात की चर्चा की कि अनुवादक को केवल अपनी मातृभाषा में ही अनुवाद कार्य करना चाहिए। *टिआनयन लुन* की भूमिका में यान फू द्वारा प्रतिपादित तीन दिशा-निर्देशक प्रतिस्थापनाओं—विश्वसनीयता, सम्प्रेषणीयता और सुन्दरता—को आज भी अनेक चीनी अनुवादकर्ता अनुवाद के स्वर्णिम नियम के तौर पर स्वीकार करते हैं (हुंग एवं पोलार्ड 1998-376)। बीसवीं सदी की शुरुआत में मातृभाषा सिद्धान्त को जिस प्रकार मा तथा यान द्वारा रखा गया, उसे बाद की पीढ़ी के विद्वानों ने भी स्वीकार किया।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है कि अनुवादक को अपनी भाषा पर अच्छा अधिकार होना चाहिए। उसे चीनी भाषा में प्रवाहपूर्ण तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति की क्षमता होनी चाहिए। पश्चिमी विचारों को अपनी भाषा में अभिव्यक्त नहीं कर पाने (लुओ 1984 में उद्धृत लिन-1932) के कारण अनुवाद की भाषा में प्रवाह नहीं आ पाता है। अच्छे अनुवाद के लिए यह जरूरी है कि अनुवादक को मूल-पाठ की अच्छी समझदारी हो, उसे अपनी मातृभाषा पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। मूल-पाठ को पूरी तरह पचा लेने के बाद ही अनुवादक को अपनी भाषा में सम्प्रेषित करना चाहिए (लुओ 1984 में उद्धृत फेंग 1959)।

चीन में एक और विशेषता है जो पश्चिम में नहीं है, वहाँ अपनी मातृभाषा से अलग भी किसी भाषा में अनुवाद किया जाता है, इसे प्रतिलोम अनुवाद कहते हैं। चीन में प्रतिलोम अनुवाद की लम्बी परम्परा रही है। ऐतिहासिक रूप से चीन 20वीं सदी के पहले अनुवाद के लिए विदेशी सहयोग पर निर्भर करता था। सन् 1949 के बाद चीन को दुनियाँ के सामने लाने के लिए चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने चीनी भाषा के पाठों का गैर-चीनी भाषाओं में अनुवाद करवाया। इसके अलावा अर्थशास्त्र, वाणिज्य, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, शिक्षा आदि के क्षेत्रा में प्रतिलोम अनुवाद को भी सन् 1970 में चीन में सुधारवादी दौर के बाद काफी बढ़ावा मिला। सन् 1980 के पहले प्रतिलोम अनुवाद को शैक्षणिक जगत में नजरअन्दाज किया गया। हाल के वर्षों में कुछ चीनी विद्वानों ने इस बात की जरूरत महसूस की है कि अनुवाद के माध्यम से चीन की संस्कृति को दुनियाँ के लोगों तक पहुँचाया जाए।

दो सौ से भी अधिक वर्षों से प्रत्यक्ष अनुवाद तथा मातृभाषा सिद्धान्त का मसला पश्चिमी दुनियाँ में छाया रहा है, पर चीन की अनुवाद परम्परा में यह बीसवीं सदी की शुरुआत से स्थापित हुआ। इसके पहले चीन की सांस्कृतिक मुख्यधारा में अनुवाद की स्वीकृति नहीं थी और इसे महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था। यही कारण था कि चीन में अनुवाद की दिशा के बारे में कोई विचार नहीं किया गया।

चीन में अनुवाद कार्य की शुरुआत दूसरी सदी में बौद्ध-सूत्रों के अनुवाद के साथ हुई। बीसवीं सदी के पहले तक चीन में अनुवाद विदेशी अनुवादकों पर निर्भर करता था। दरअसल, चीन की संस्कृति में अनुवाद को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था, इसलिए इसकी दिशा को नजरअन्दाज किया जाता था।

3.4 आधुनिक चीन में अनुवाद

विनाशकारी 'सांस्कृतिक क्रान्ति' समाप्त होने के दो साल बाद सन् 1978 में चीन ने खुलेपन और सुधारवाद की नीति अपनाई। इसके बाद अनुवाद के एक नए और ऊर्जावान दौर की शुरुआत हुई। तेजी से विकसित होती हुई अर्थव्यवस्था में अनुवादकों तथा अनुवचनकर्ताओं (इण्टरप्रेटर्स) की योग्यता रखने वाले लोगों की बड़ी माँग थी, खासकर विकसित तटीय क्षेत्रों में जहाँ विदेश व्यापार, आर्थिक तथा कूटनीतिक सम्बन्धों को बढ़ावा देने के लिए चीनी सरकार की ओर से कई रियायतें दी जा रही थीं। हालाँकि अनुवाद-जगत में साहित्यिक अनुवाद की महत्ता को कम नहीं किया जा सकता, लेकिन चीन में काम कर रहे पाँच लाख से भी अधिक अनुवादक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी-मामलों, प्रौद्योगिकी, सूचना विज्ञान जैसे विषयों में अनुवाद के कार्य में लगे हुए हैं। वे केवल चीनी भाषा में ही अनुवाद नहीं करते, बल्कि चीन की संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए चीनी से अन्य भाषाओं में भी अनुवाद करते हैं। निश्चित तौर पर अनुवाद में अंग्रेजी का हिस्सा बहुत बड़ा है लेकिन चीनी अनुवादक दुनियाँ भर की सौ से भी अधिक भाषाओं में अनुवाद-कार्य का आदान-प्रदान करते हैं।

अनुवाद सम्बन्धी दिशा-निर्देशों और समन्वय के लिए राज्य-परिषद की सहमति और सहयोग से सन् 1982 में चीनी अनुवाद संगठन की स्थापना की गई। इस संस्था द्वारा 'चाइना ट्रान्सलेटर्स जर्नल' नामक अकादमिक पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है। इसे चीन में अनुवाद अध्ययन सम्बन्धी सर्वोच्च पत्रिका के रूप में जाना जाता है। इस पत्रिका का उद्देश्य है अनुवाद सिद्धान्त में शोध को बढ़ावा देना, अनुवाद सम्बन्धी अनुभवों को आपस में बाँटना, अनुवादों पर टिप्पणी करना आदि। यह देश भर के अनुवादकों को चीन तथा विदेशों के अनुवाद सिद्धान्तों के बारे में ताजातरीन जानकारियाँ उपलब्ध कराता है।

चीन में अनुवादकों और तत्काल-भाषान्तरण करने वालों की जरूरत को देखते हुए उच्च-शिक्षा की संस्थाओं या विदेशी भाषा विभागों ने अनुवाद में शैक्षणिक उपाधियों को मान्यता दे दी है। चीन में अनुवाद के लिए स्नातक उपाधि की स्वीकृति मिलने के पहले ही स्नातकोत्तर उपाधि को मान्यता मिल गई थी। सन् 1979 में संयुक्त राष्ट्र संघ के वित्तीय सहयोग से बीजिंग विदेश अध्ययन विश्वविद्यालय में अनुवादकों और तत्काल भाषान्तरण करने वाले लोगों के लिए एक केन्द्र की स्थापना की गई। इसका मुख्य उद्देश्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए कुशल अनुवादकों और तत्काल-भाषान्तरण करने वाले लोगों को तैयार करना था। यहाँ चलाया जाने वाला तीन साल का प्रशिक्षण कार्यक्रम काफी सफल रहा। सन् 1986 से 1995 के बीच इस केन्द्र से करीब दो सौ लोगों ने अनुवाद और तत्काल भाषान्तरण में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। यही लोग अनुवाद और अनुवचन (इण्टरप्रिटेशन) कार्य में रीढ़ की हड्डी का काम कर रहे हैं।

चीन में सन् 1994 तक स्नातक स्तर तक अनुवाद या तत्काल-भाषान्तरण के लिए उपाधि नहीं दी जाती थी। सन् 1994 में गुआंगडोंग विदेश-अध्ययन विश्वविद्यालय तथा जिआमेन विश्वविद्यालय ने ब्रिटिश काउन्सिल तथा वेस्टमिन्स्टर विश्वविद्यालय के सहयोग से स्नातक स्तर पर उपाधि प्रदान करने की शुरुआत की। इसका मकसद था चीन में आर्थिक विकास के कारण पैदा हुए अनुवादकों एवं तत्काल-भाषान्तरण करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धी माँगें पूरी करना। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर पर अध्ययन कार्यक्रमों की स्थापना से अनुवाद कार्य और अनुवाद सिद्धान्त दोनों को काफी बढ़ावा मिलेगा।

चीन ने जब अपने द्वार शेष दुनियाँ के लिए खोले तो इसके साथ ही अनुवादकों और अनुवाद सिद्धान्तकारों की सोच का दायरा भी विकसित हुआ। अब अनुवाद सिद्धान्तकार केवल इसी बात पर बहस नहीं करते कि अनुवाद को कैसे परखा जाए—शब्दानुवाद बेहतर है या भावानुवाद आदि। पश्चिमी दुनियाँ के प्रभाव में अब चीनी अनुवाद-सिद्धान्तकार इन सिद्धान्तों पर नए ढंग से विचार कर रहे हैं। लेकिन आज भी अनुवादकों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले अनुवादक और शब्दशः या सांस्कृतिक दृष्टिकोण रखने वाले अनुवादक। भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले अनुवादक विश्वविद्यालयों में अनुवाद पढ़ाने वाले शिक्षक, भाषावैज्ञानिक आदि हैं जिन्होंने पश्चिमी अनुवाद सिद्धान्त का गहरा अध्ययन किया है।

सन् 1978 में दुनियाँ के लिए अपने दरवाजे खोलने के बाद, तकनीकी ज्ञान और विशेषज्ञता वाले विषयों के अनुवाद का कार्य भी चीनी अनुवादकर्ताओं के बीच लोकप्रिय हुआ है। इस प्रकार के अनुवाद को बढ़ावा देने के लिए सन् 1992 में 'चाइना टेक्निकल जर्नल' का प्रकाशन शुरू हुआ। इस पत्रिका में अब तक इनसे सम्बन्धित विषयों पर 500 से भी अधिक बहुमूल्य लेख प्रकाशित किए जा चुके हैं। आगे चलकर यही लेख चीनी तकनीकी अनुवाद सिद्धान्त के मुख्य आधार साबित होंगे।

3.5 सारांश

अनुवाद अध्ययन एक विज्ञान है। लेकिन यदि हम अनुवाद के क्रम में पैदा होने वाली सामग्री को देखें तो इसे एक कला या शिल्प के रूप में देखना ही उचित जान पड़ता है। अनुवाद चाहे कला हो, शिल्प हो या विज्ञान, अच्छे अनुवाद के लिए यह आवश्यक है कि अनूदित पाठ को भी मूल-पाठ वाला प्रभाव पैदा करने में सक्षम होना चाहिए।

चीन में अनुवाद के लम्बे इतिहास की ओर देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि इस लम्बे इतिहास एवं अनुवाद-सिद्धान्त के छिटपुट उदाहरणों के बावजूद, अनुवाद-सिद्धान्त का कोई व्यवस्थित स्वरूप चीन में नहीं दिखाई

देता। हाँ, अनुवाद के गुरों को सिखाने वाले सूत्र-वाक्य अवश्य मिल जाते हैं। इसकी तुलना में पश्चिम में अनुवाद सिद्धान्त काफी विकसित था, हालाँकि चीन में बड़े पैमाने पर अनुवाद कार्य होता है। अर्थव्यवस्था के विकास और दुनियाँ भर में अपने बढ़ते राजनीतिक प्रभाव के कारण चीन में अनुवाद के विकास सम्बन्धी नई समस्याएँ सामने आ रही हैं।

अपनी मातृभाषा से अलग किसी भाषा में अनुवाद अर्थात प्रतिलोम अनुवाद का चीन में लम्बे समय से चलन रहा है। लेकिन वहाँ भाषा की दिशा के बारे में दूसरी सदी से लेकर बीसवीं सदी के बीच कोई विशेष विचार नहीं किया गया। उस समय ऐसी मान्यता थी कि केवल अपनी मातृभाषा में ही अनुवाद किया जाना चाहिए। इस कारण इस विषय पर सीधे तौर पर विचार नहीं किया गया। आज भी चीन में अनुवाद के सम्बन्ध में मातृभाषा सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। इस विषय पर सन् 1980 के शुरुआती वर्षों में विचार किया जाना प्रारम्भ हुआ और शिक्षाजगत में इस बात पर गौर किया जाने लगा। चीन में प्रतिलोम अनुवाद के लिए स्थानीय अनुवादकों का सहारा लिया जाता था।

सन् 1980 तथा सन् 1990 के दशक में अनुवाद की दिशा पर विचार विमर्श शुरू हुआ। इसमें प्रत्यक्ष अनुवाद और प्रतिलोम अनुवाद में अन्तर, दोनों प्रकार के अनुवादकों की क्षमताओं और योग्यताओं में अन्तर तथा दोनों प्रकार के अनुवादों की तकनीक और तौर-तरीकों पर विचार करने की प्रक्रिया शुरू हुई। फिर भी ऐसा माना जाता है कि चीन में प्रतिलोम अनुवाद की जरूरत तो है लेकिन प्रवाहपूर्ण एवं स्वीकार योग्य अनुवाद विदेशियों के सहयोग के बिना सम्भव नहीं।

इस विषय पर क्रमबद्ध तरीके से कोई काम नहीं हुआ है। इससे यह बात साबित होती है कि चीन में अनुवाद सम्बन्धी अध्ययन और शोध अब भी अपनी शैशवावस्था में है और पाश्चात्य अनुवाद सिद्धान्तों की बैसाखी पर खड़ा है (लिउ, 2008)। इसलिए आज इस बात की जरूरत है कि अनुवाद सिद्धान्त के चीनी विद्वान अनुवाद की दिशात्मकता एवं प्रतिलोम अनुवाद पर गहन शोध करें। इस प्रकार के शोध से न केवल चीन में प्रतिलोम अनुवादकों को फायदा पहुँचेगा बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी कार्य कर रहे लोगों को इससे लाभ मिलेगा।

3.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. संचार में अनुवाद के महत्त्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
2. अनुवाद की समस्याओं का आकलन प्रस्तुत करें।
3. आधुनिक चीनी साहित्यिक विभूतियों द्वारा अनुवाद के क्षेत्र में किए गए योगदान पर प्रकाश डालें।

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- कैम्पबेल, स्टुअर्ट, 1998, *ट्रासलेशन इनटू दि सेकेण्ड लैंग्वेज,* लन्दन/न्यूयॉर्कः लौंगमैन।
- लेफेवेयर, आन्द्रे, 1998, *चाइनीज एण्ड वेस्टर्न थिंकिंग ऑन ट्रान्सलेशन,* सूसन बेसनेट तथा आन्द्रे लेफेवेयर (सं.), कन्सट्रक्टिंग कल्चर्स : एसेज ऑन लिटरेरी ट्रान्सलेशन, क्लीवडॉन : मल्टीलिंगुअल मैटर्स से उद्धृत।
- लिउ, चिंग-चिह, 2008, *ट्रान्सलेशन ऐज एकेडेमिक, प्रोफेशनल ऑर सेमी प्रोफेशनल परसुट,* कम्पायलेशन एण्ड ट्रान्सलेशन रिव्यू 1:183-192।
- पोकोर्न, नाइक, 2000 *ट्रान्सलेशन इनटू अ नन-मदर टंग इन ट्रान्सलेशन थ्योरी : डिकन्सट्रक्शन ऑफ दि ट्रैडिशनल,* एण्ड्रू चेस्टरमैन (सं.), ट्रान्सलेशन इन कण्टेक्स्ट, एम्सटर्डम/फिलाडेल्फियाः जॉन बेंजामिन्स।
- टैगोर, अमितेन्द्रनाथ (1967), *लिटरेरी डिबेट्स इन मॉडर्न चाइना*।
- 1918-1937, *टोक्यो सेंटर फॉर ईस्ट एशियन कल्चरल स्टडीज*।

- एडुअनी, एस. (2000), *नैरोइंग दि गैप बिटविन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ ट्रान्सलेशन,* http:/accurapid.com/journal/36yoruba.htm, अप्रैल 17, 2007.
- अजीजीनेझाद, एम.(2004), *इज ट्रान्सलेशन टीचेबल?* http://accurapid.com/journal/36edu.htm, अप्रैल 17, 2007.
- बेकर एम. (सं.), (1998), *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ट्रान्सलेशन स्टडीज,* लन्दन : रूतलेज।
- बेल, आर.टी., (1991), *ट्रान्सलेशन एण्ड ट्रान्सलेटिंग : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस,* लन्दन तथा न्यूयॉर्क, लौंगमैन।
- गालीबर्ट, एस.(2004), *अ फ्यू वर्ड्स ऑन ट्रान्सलेशन्स,* http://accurapid.com/journal/29accom-htm, अप्रैल 3, 2007.
- हूबर्ट, एफ (1998), *ट्रान्सलेशन ऐज अ कम्यूनिकेशन प्रोसेस,* http://accurapid.com/journal/05theory.htm, नवम्बर 1, 2006.
- कौर, के., (2005), *अ कम्पीटेण्ट ट्रान्सलेटर एण्ड इफेक्टिव नॉलेज ट्रान्सफर,* http://accurapid.com/journal/34edu.htm, अप्रैल 3, 2007.
- मैकनामरा, जी., (2002), *क्वालिटी वेबसाइट लैंग्वेज, आर्टिकल्स फॉर फ्री यूज,* http://www.translateme.co-nz/Articles/Article16.htm. अप्रैल 20, 2006.
- नोगुएरा, डी. (1998), *दि बिजनेस ऑफ ट्रान्सलेटिंग,* http://accurapid.com/journal/06xlat1-htm, नवम्बर 17, 2006.
- सुगिमोटो, टी., (2005), *दि इन्सेप्शन ऑफ ट्रान्सलेशन कल्चर इन जापान,* http://www.erudit.org/revue/meta/1988/v33/n1/004311ar.pdf, नवम्बर 17, 2006.
- टिआनमिन, एस.जे., (2000), *ट्रान्सलेशन इन कण्टेक्स्ट,* http://accurapid.com/journal.36context.htm, नवम्बर 23, 2006.
- *ट्रान्सलेशन,* (2005), http://en.wikipedia.org/wiki/Translation, नवम्बर 11, 2006.
- कन्फीडेन्शियल पेज, 5/26/2011, वारेन, एम.आर. (2004), *मीडिएवल ट्रान्सलेशन एण्ड पोस्ट कोलोनियल थ्योरी* । http://acl.ldc.upenn.edu/coling2004/W5/pdf/W5-11.pdf, जून 10, 2006.

इकाई 4 अनुवाद की बौद्ध परम्परा

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 अनुवाद की बौद्ध परम्परा का प्रारम्भ

4.3 अनुवाद की बौद्ध परम्परा का ग्रीक परम्परा से सम्बन्ध

4.4 अनुवाद की बौद्ध परम्परा का बौद्ध धर्म के प्रसार में योगदान

4.5 अनुवाद की श्रीलंकाई बौद्ध परम्परा

4.6 अनुवाद की बौद्ध परम्परा में ग्रीक और कुशाण राजाओं का योगदान

4.7 अनुवाद की चीनी परम्परा

4.8 अनुवाद की कोरियाई और जापानी बौद्ध परम्परा

4.9 अनुवाद की दक्षिण एशियाई बौद्ध परम्परा

4.10 अनुवाद की तिब्बती बौद्ध परम्परा

4.11 अनुवाद की यूरोपीय बौद्ध परम्परा

4.12 अनुवाद की आधुनिक भारतीय बौद्ध परम्परा

4.13 अनुवाद की आधुनिक बौद्ध परम्परा का समीक्षात्मक विवेचन

4.14 सारांश

4.15 अभ्यास के लिए प्रश्न

4.16 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

यह इकाई अनुवाद की बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित है। इस इकाई को पढ़ने से अनुवाद अध्ययन में एम. ए. करने वाले शिक्षार्थियों को बौद्ध साहित्य के अनुवाद की विस्तृत परम्परा की संक्षिप्त जानकारी मिलेगी। इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समझ पाएँगे कि :

- अनुवाद की बौद्ध परम्परा का प्रारम्भ कैसे हुआ;
- बुद्ध-वचन के प्रचार-प्रसार में अनुवाद की क्या भूमिका रही है।

4.1 प्रस्तावना

अनुवाद अध्ययन अथवा अनुवाद शास्त्र से जुड़ने का अर्थ वस्तुतः भारत की उस प्राचीन परम्परा से जुड़ना है, जिससे हमारे पूर्वज गौरवान्वित होते रहे हैं। भारत या भारत के पड़ोसी एशियाई देशों में अनुवाद की जो परम्परा रही है, उसका काल निर्धारण कर पाना आज के समय में बड़ा कठिन है। पर विद्वानों का मानना है कि सम्भवतः अनुवाद या अनुवचन का सबसे पुराना उदाहरण हमें वेद की संहिताओं में मिलता है। विदित है कि वेद की संहिताएँ, खासकर ऋग्वेद की संहिताएँ, विश्व साहित्य में सबसे प्राचीन हैं। वहाँ अनुवचन के कुछ उदाहरण मिलते हैं, जब

ऋग्वेद की संहिताओं को सामवेद में गीतों के रूप में प्रस्तुत किया गया और उन्हीं को यजुर्वेद में यज्ञों के अनुष्ठान के लिए बनाए गए नियमों के रूप में दर्शाया गया। इस दृष्टान्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत की अनुवाद परम्परा सम्भवतः पूरे विश्व की सबसे प्राचीन परम्परा है।

4.2 अनुवाद की बौद्ध परम्परा का प्रारम्भ

भारत के प्राचीन इतिहास में अनुवाद की परम्परा सबसे पहले सम्भवतः बौद्धों से प्रारम्भ हुई। गौतम बुद्ध की शिक्षाओं की प्रकृति ही ऐसी थी कि अनुवाद के बिना उसका प्रचार-प्रसार सम्भव न था। बौद्ध धर्म की शिक्षा में किसी कुल, वर्ण, क्षेत्र, जाति, नस्ल, लिंग भेद आदि की सीमाबन्दी नहीं थी, सबके लिए खुली छूट थी। यही कारण है कि उनकी शिक्षाओं का बेरोक-टोक विस्तार हुआ। *विनय पिटक* के *चुल्लवग्ग* में एक प्रसंग आया है, जिसमें *यमेळ* और *तेकुल* वंश के दो पठान बन्धुओं की कथा दी हुई है। वे दोनों पुरुषपुर (जिसकी पहचान आज पेशावर से की जाती है, जो पाकिस्तान में स्थित है) से चल कर मगध आए थे और गौतम बुद्ध के संघ में प्रविष्ट हुए (उनके शिष्य बने) थे। संघ में रहते हुए उन्होंने देखा कि विभिन्न मूल, गोत्र, वंश के भिक्षु गौतम बुद्ध की उदात्त वाणी को जनसाधारण की भाषा में अनूदित कर दोहराते हैं, उनका पाठ करते हैं। उन्हें (उन पठान बन्धुओं को) यह बात अच्छी नहीं लगी। वे गौतम बुद्ध के पास गए और उनसे प्रार्थना की कि उन्हें इस बात की अनुमति दी जाए कि वे गौतम बुद्ध के वचनों को छान्दस (वेदों की भाषा या बोली) में अनूदित करें। गौतम बुद्ध ने अपने अन्य शिष्यों को बुलवाया और उनके सामने उन दोनों पठान बन्धुओं को डाँटा-फटकारा और छान्दस में अनुवाद करने से मना किया। अन्त में बुद्ध ने भिक्षुओं को यह अनुमति दी कि वे उनके वचनों को अपनी-अपनी भाषा या बोली में करके दोहराएँ, पाठ करें और याद करें।

यह घटना उस समय की है जब सम्भवतः लिखने की परम्परा बहुत कम थी, अधिकांश बातें मौखिक ही हुआ करती थीं। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि ईसा पूर्व छठी-पाँचवी शताब्दियों में भी लोगों के सामने ये समस्याएँ आ रही होंगी कि अनुवाद कैसा हो, किस भाषा से किस भाषा में हो...जिन्हें उन्होंने अपने-अपने ढंग से हल किया। *त्रिपिटक* में संगृहीत गौतम बुद्ध के वचन में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते हैं कि एक स्थान से दूसरे स्थान गए हुए भिक्षुओं को गौतम बुद्ध के वचनों को जगह-जगह प्रचारित करने की विशेष आवश्यकता पड़ी। उन स्थितियों में उन्होंने अनुवाद का सहारा लिया था। गौरतलब है कि उस युग में संचार के साधन आज जैसे नहीं थे, एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में महीनों लग जाते थे। उदाहरण भदन्त महाकच्चायन का है, जो प्राचीन अवन्ति देश से (आज का मालवा या उज्जैन के आस-पास का प्रदेश) चल कर मगध, कोसल आदि क्षेत्रों में आए थे और गौतम बुद्ध के शिष्य बने थे। गौतम बुद्ध के सुझाव पर वे लौट कर अवन्ति देश गए और वहाँ गौतम बुद्ध के वचनों को वहाँ की बोलियों में ढाल कर लोगों तक पहुँचाया और इस प्रकार धर्म-प्रचार का कार्य किया।

भदन्त पूर्ण (पालि भाषा में पुण्ण) की कथा भी *त्रिपिटक* में आती है। वे अनुवाद के सहारे बौद्ध धर्म को सूनापरन्त (आज का पश्चिमी महाराष्ट्र व गुजरात) ले गए थे। वहाँ की भाषा या बोलियों में बौद्ध धर्म को ढाल कर लोगों में उसका प्रचार किया था। कहा जाता है कि वहाँ के लोग स्वभाव से बडे कठोर थे। उनको भदन्त पूर्ण ने अपने विनीत स्वभाव के कारण धर्म में दीक्षित कर दिया था। *मज्झिम निकाय* के *अस्सलायन सुत्त* में कम्बुज या कम्बोज देश का उल्लेख मिलता है। यह देश सम्भवतः आज के अफगानिस्तान का उत्तर-पूर्वी भाग रहा होगा। *अस्सलायन सुत्त* में उल्लेख मिलता है कि वहाँ का समाज उत्तर-भारतीय कोसल, मगध आदि प्रदेशों के समाज से भिन्न था। वहाँ पर वर्ण (जाति) व्यवस्था नाम की कोई पद्धति नहीं थी। पूरे समाज में दो ही वर्ग होते थे। एक को अरिय (आर्य, अर्थात् मालिक, स्वामी) कहते थे और दूसरे को दास (गुलाम) कहते थे। इस घटना से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल में, या उससे पहले के काल में यहाँ-वहाँ के लोगों का आना-जाना रहा होगा। एक दूसरे की बातों को एक दूसरे की बोलियों में उल्था करके वे समझते रहे होंगे और यही कारण है कि बुद्ध के शिष्यों को वहाँ के समाज से परिचित होने में सुविधा हुई होगी।

4.3 अनुवाद की बौद्ध परम्परा का ग्रीक परम्परा से सम्बन्ध

जिन लोगों ने प्राचीन इतिहास पढ़ा है उन्हें याद होगा कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में अर्थात् गौतम बुद्ध के बाद की दूसरी-तीसरी शताब्दियों में भारत और ग्रीस के बीच सम्बन्ध बन चुका था। अलेक्जेण्डर विश्व विजय के लिए निकल पड़ा था। उसने अनेक देशों पर विजय पाई थी। इस विषय में अनुमान लगाया जा सकता है कि अनुवाद का सहारा लिए बगैर उनका कार्य सम्भव नहीं हुआ होगा। भारतीय उप-महाद्वीप (जिसमें भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश सम्मिलित हैं) में अलेक्जेण्डर के कई स्थानों पर युद्ध हुए और कई क्षेत्र उसके अधीन हो गए थे। उसके साम्राज्य में होने के कारण बाद में उनके प्रधान सेनापति सेल्यूकस ने उन पर शासन भी किया। ऐसा कहा जाता है कि सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त मौर्य के परिवारों के सदस्यों के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध हुए। दोनों में सन्धि हुई और चन्द्रगुप्त मौर्य को शासन के लिए विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हुआ। उनकी राजधानी पाटलिपुत्र में ग्रीस का राजदूत मेगस्थनीज नियुक्त था। उसने अपने विवरण *'इण्डिका'* में उस समय के अपने अनुभवों को लेखबद्ध किया था। इस तथ्य से अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय भी अनुवाद का कार्य व्यापक रूप में हुआ होगा। मेगस्थनीज ने जो जानकारियाँ प्राप्त की होंगी, उन्हें उस समय की मुख्य भाषाओं पालि-संस्कृत-प्राकृत से और उस समय की प्रचलित अन्य क्षेत्रीय बोलियों व भाषाओं से ही प्राप्त की होंगी।

यों तो आज इस बात की विस्तृत जानकारी नहीं है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने इतने बड़े साम्राज्य में किन अनुवादकों की सहायता से शासन किया। लेकिन इतना तो अनुमान लगाया ही जा सकता है कि प्राचीन गान्धार, अफगानिस्तान इत्यादि क्षेत्रों से ले कर सुदूर दक्षिण के कर्नाटक आदि क्षेत्र उनके साम्राज्य के अंग थे, जिसमें अनेक बोलियाँ व भाषाएँ बोली जाती थीं। ऐसा कहा जाता है कि उनके प्रधानमन्त्री चाणक्य (विष्णुगुप्त) ने संस्कृत में *अर्थशास्त्र* नामक ग्रन्थ की रचना की थी जो राजशास्त्र (राजनीति शास्त्र), अर्थ शास्त्र, प्रशासन शास्त्र आदि कई विषयों से सम्बन्धित था। परन्तु आज जो *अर्थशास्त्र* ग्रन्थ मिल रहा है वह चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन नहीं है। ऐसा लगता है कि चाणक्य के नाम पर किसी अन्य ने बाद की सदियों में इस ग्रन्थ की रचना की। कुछ विद्वानों का ऐसा भी मानना है कि *अर्थशास्त्र* का अनुवाद ग्रीक भाषा में भी हुआ था, पर आज ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता। जैन स्रोतों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के अन्तिम काल में जैन मुनि (संन्यासी) बन गए थे और दक्षिण भारत के कर्नाटक क्षेत्र में रहने लगे थे। यहाँ भी अनुमान का सहारा लेना पड़ता है कि उत्तर भारतीय चन्द्रगुप्त मौर्य दक्षिण भारत में अनुवाद या दुभाषियों के सहारे ही अपना जीवनयापन करते रहे होंगे।

4.4 अनुवाद की बौद्ध परम्परा का बौद्ध धर्म के प्रसार में योगदान

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास में सम्राट अशोक का काम अनुवाद कार्य के लिए सबसे व्यापक और विशिष्ट रहा होगा। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य जितना विराट था, सम्राट अशोक ने उसे और विस्तार दिया। बौद्ध धर्म के प्रति उनके झुकाव के कारण भी अनुवाद कार्य में अत्यधिक विकास हुआ। उनके शासन काल में बौद्धों की तीसरी संगीति (बौद्ध भिक्षुओं का महासम्मेलन, जिसमें बुद्धवचनों के पाठ पर निर्णय लिया जाता था) उनकी राजधानी पाटलिपुत्र में हुई, जिसमें एक हजार प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। उस संगीति में जो चर्चाएँ और विवेचन हुए, उनके विषय में बौद्ध स्रोत तो यही कहते हैं कि वे पालि भाषा में हुए थे लेकिन प्रतीत होता है कि पालि के अलावा अन्य भाषाओं का भी सहारा लिया गया था, और इस कार्य में अनेक अनुवादक लगाए गए थे।

भदन्त महादेव जो अशोक के समकालीन थे और संगीति में सम्मिलित नहीं हुए थे, लेकिन उनके माध्यम से जिन स्रोतों का पता लगता है वे पालि के अलावा अन्य रहे होंगे। उनका स्रोत सम्भवतः संस्कृत था। इसी संगीति में विभिन्न देशों में धार्मिक प्रचारकों को भेजने का निर्णय भी लिया गया था। बौद्ध साहित्यिक स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि ऐसे प्रचारक यवनों (आइओनिअन ग्रीकों), गान्धार, कश्मीर और उत्तर में हिमालयी क्षेत्रों में; भारत के पश्चिमी भाग, जैसे अपरान्तक; दक्षिणी भाग, जैसे वनवासी और मैसूर; तथा सुदूर दक्षिण के देश, जैसे श्रीलंका और सुवर्ण-भूमि (मलय और सुमात्र) तक भेजे गए थे। यह सूचना अशोक के तेरहवें शिलालेख से और निश्चित हो जाती है, जहाँ यह कहा गया है कि उन्होंने न केवल अपने साम्राज्य में या सीमावर्ती लोगों में बल्कि

दूर-दराज के देशों—सीरिया के राजा एण्टीओकस (अन्तियोक) द्वितीय तथा इससे भी आगे के चार अन्य राजाओं के राज्यों अर्थात् इजिप्ट के टोलेमी (तुरामेय), मैकेडोनिया के एन्टीगोनोस (अन्तकिनि), एपिरस (उत्तरी ग्रीस का एक प्राचीन जिला) के अलेक्जेण्डर (अलिकसुन्दर) और उत्तरी अफ्रीका में सिरेनिआ के मगस तक धर्मप्रचार का सफल प्रयास किया था। उसने यवनों, कम्बोजों, पाण्ड्यों, चोलों, आन्ध्रों, पुलिन्दों, सिंहलों इत्यादि का भी इस सम्बन्ध में वर्णन किया है। अशोक के द्वितीय शिलालेख में यह बताया गया है कि इन सभी देशों में अशोक ने मनुष्यों और पशुओं दोनों के लिए अस्पताल खोले, सभी प्राणियों के हित और भलाई के लिए कुएँ और तालाब खुदवाए, पेड़ और औषधीय पौधे लगवाए। इस विषय में अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कार्यों को अन्जाम देने वाले राज्य कर्मचारी वहाँ की भाषाओं और बोलियों से परिचित रहे होंगे या अनुवादकों व दुभाषियों की सहायता से ही ऐसा सम्भव हुआ होगा। इस सन्दर्भ में योन धम्मरक्खित नामक यवन भिक्षु का वर्णन करना भी उचित होगा जिन्हें धर्मप्रचार के लिए अपरान्तक भेजा गया था।

4.5 अनुवाद की श्रीलंकाई बौद्ध परम्परा

सम्राट अशोक के पुत्र (अन्य स्रोतों से भाई) महिन्द, गौतम बुद्ध के धर्म को श्रीलंका ले जाने वाले माने जाते हैं। उनके साथ जाने वाले अन्य चार भिक्षु (इट्ठिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल) मूलतः उड़ीसा के रहने वाले थे। विद्वानों के अनुसार उड़ीसा एवं श्रीलंका के सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से रहे हैं और महिन्द के ये सहयोगी सम्भवतः श्रीलंका की भाषा एवं बोलियों से परिचित रहे होंगे। अनुमान असंगत न होगा कि अनुवादकों की सहायता लिए बिना दो देशों के बीच सम्बन्ध सम्भव नहीं होता; वे लोग इस बात से अवगत थे कि किसी नए स्थान पर जाना एवं धर्म-प्रचार करना वहाँ की भाषा जाने बिना असम्भव है। उन लोगों ने वहाँ धर्म-प्रचार किया और संघ की स्थापना की, जिसमें वहाँ के स्थानीय लोगों ने प्रवेश लेकर पालि भाषा में संकलित त्रिपिटक का अध्ययन एवं अध्यापन किया। इस काम के लिए भी उन लोगों को अनुवादकों की आवश्यकता पड़ी होगी। यहाँ इस बात को जानना और भी आवश्यक है कि उन लोगों ने बौद्ध धर्म के पाठ अपनी स्थानीय भाषा/बोली में सीखने के अलावा उसे पालि भाषा में ग्रहण किया। उस समय लिखी गईं अनेक अट्ठकथाएँ इस बात की साक्षी हैं।

सम्राट् अशोक के शासन-काल में बौद्ध धर्म का व्यापक कार्य हुआ। इस सम्बन्ध में यह बात भी स्पष्ट है कि उनका ज्यादातर कार्य *थेरवाद* बौद्ध धर्म से सम्बन्धित रहा होगा, क्योंकि अशोक के विषय में उपलब्ध स्रोत अधिकतर *थेरवादी* हैं। लेकिन इससे यह अनुमान लगाना कि अशोक ने केवल *थेरवाद* को बढ़ावा दिया, गलत होगा। *सर्वास्तिवादी* स्रोतों से ज्ञात होता है कि अशोक का झुकाव उनकी ओर भी था। ऐसा कहा जाता है कि उनके धर्मगुरु भदन्त उपगुप्त *सर्वास्तिवादी* थे। *सर्वास्तिवाद* की बात इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि बाद की सदियों में जहाँ *थेरवाद* बौद्ध धर्म दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में प्रचलित हुआ, वहीं *सर्वास्तिवाद* भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों व मध्य एशिया में। यह कार्य दोनों तरफ से अशोक के समय में ही प्रारम्भ हो चुका था। इस विषय में इतना और जोड़ा जा सकता है कि *सर्वास्तिवाद* की जड़ें भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों (अफगानिस्तान, पाकिस्तान व मध्य एशिया) में अशोक के काल में ही जम चुकी थीं, जो सम्राट कनिष्क के समय में पूरी तरह पल्लवित व पुष्पित हुईं।

थेरवादी परम्परा के अनुसार चौथी बौद्ध संगीति पहली शताब्दी में राजा वट्टगामिणी अभय के समय में हुई, जब पहली बार त्रिपिटक को पत्थरों पर खुदवा कर लिपिबद्ध किया गया। वह कार्य भी पालि भाषा में ही किया गया। इससे पहले तक महिन्द द्वारा लाया गया धार्मिक साहित्य स्मरण और मौखिक परम्परा द्वारा बचा कर रखा गया था। उनको लिपिबद्ध करने का आयोजन किया गया और 500 भिक्षु प्रतिनिधि उच्चारण करने वाले और 500 लिपिबद्ध करने वाले इस कार्य में लगाए गए थे। इस प्रकार पालि श्रीलंका की साहित्यिक भाषा बन गई, जिस स्थान पर वह अब भी काबिज है। सिंहली भाषा में भी वहाँ की ग्रन्थ रचना होने की बात विदित है किन्तु पालि भाषा का महत्त्व कम नहीं हुआ था, जो एक स्पष्ट सन्देश देता है कि वहाँ के भिक्षु गण सम्भवतः दोनों भाषाओं में पारंगत होते रहे होंगे जो अनुवाद प्रक्रिया की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

4.6 अनुवाद की बौद्ध परम्परा में ग्रीक और कुशाण राजाओं का योगदान

भारतीय इतिहास में राजा मिनाण्डर का नाम महत्त्वपूर्ण है जिसने उत्तर पश्चिमी भारत के बड़े भूभाग पर शासन किया था। उनकी राजधानी सागल या साकल (आधुनिक सियालकोट) में मानी जाती है। *मिलिन्दप्रश्न* नामक ग्रन्थ में यवन राजा मिनाण्डर और भारतीय बौद्ध भिक्षु नागसेन के मध्य हुए दार्शनिक सम्वादों को दर्शाया गया है। यवन राजा भारतीय धर्मों एवं दर्शनों को जानने एवं समझने के क्रम में भिक्षु नागसेन के सम्पर्क में आए और उनसे प्रभावित होकर बौद्ध अनुयायी बन गए। इन समस्त बातों के लिए भी अनुवादों एवं अनुवादकों की आवश्यकता पड़ी रही होगी, जिनके द्वारा ही भिक्षु नागसेन ने अपनी बात राजा को समझाई होगी और राजा ने दर्शन जैसे गूढ़ विषय को आत्मसात् किया होगा। आज उपलब्ध *मिलिन्दप्रश्न* पालि भाषा में है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसका मूल रूप संस्कृत में था और प्रस्तुत *मिलिन्दप्रश्न* उसका पालि अनुवाद है। *मिलिन्दप्रश्न* की शैली पर संस्कृत भाषा के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। *मिलिन्दप्रश्न* का प्राचीनतम चीनी अनुवाद सन् 317-420 के मध्य हुआ था। चीनी अनुवाद का नाम *'नागसेन सूत्र'* है, अर्थात् चीनी अनुवादकों ने राजा मिलिन्द के स्थान पर भिक्षु नागसेन को अधिक प्रधानता दी थी।

मिनाण्डर काल के बाद बौद्ध धर्म के इतिहास और अनुवाद कार्य के सम्बन्ध में राजा कनिष्क, जो कुषाण वंश का प्रमुख शासक हुआ है, का शासनकाल सबसे महत्त्वपूर्ण है। उनका साम्राज्य बड़ा व्यापक था और उसमें पूरा मध्य एशिया और यमुना घाटी तक का क्षेत्र समाहित था। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों का मत है कि मथुरा उनकी दूसरी राजधानी थी। सम्राट कनिष्क के काल में बौद्ध धर्म का *सर्वास्तिवादी* सम्प्रदाय सबसे ज्यादा प्रबल था। पहली शताब्दी में उसके राज्य में कश्मीर घाटी के कुण्डलवन अथवा पंजाब के जालन्धर में बौद्ध धर्म की चौथी संगीति (भारतीय इतिहासकारों के अनुसार) आयोजित की गई थी, जहाँ विभिन्न क्षेत्रों से आए बौद्ध भिक्षुओं ने धर्म दर्शन सम्बन्धी विषयों पर गम्भीर विवेचन किया। इस संगीति की विशेषता यह है कि इसमें किसी एक भाषा में कार्यवाही न होकर कई भाषाओं का सहारा लिया गया था, क्योंकि संगीति के दौरान जो *आर्यज्ञानप्रस्थान शास्त्र* पर विभाषा (टीका) लिखी गई थी, वह या तो किसी प्राकृत में रही होगी या फिर संस्कृत में। मूल की अनुपलब्धता के कारण इसका निर्णय करना कठिन है। आर्य कात्यायनीपुत्र द्वारा लिखित *आर्यज्ञानप्रस्थान शास्त्र* का चीनी अनुवाद उपलब्ध है। ऐसा लगता है कि *सर्वास्तिवादियों* का सम्पूर्ण बुद्ध वचन इसी संगीति में संकलित किया गया था जो आज चीनी अनुवाद के रूप में ही उपलब्ध है अपने मूल रूप में नहीं। ध्यान देने की बात है कि *आर्यज्ञानप्रस्थानशास्त्र* का संस्कृत प्रत्यनुवाद करीब पचास-साठ वर्ष पहले शान्तिनिकेतन के प्रसिद्ध विद्वान शान्ति भिक्षु शास्त्री ने किया था।

4.7 अनुवाद की चीनी परम्परा

सम्भवतः दूसरी शताब्दी के मध्य में ही बौद्ध धर्म ने मध्य एशिया व चीन में प्रवेश किया। चीन में बौद्ध ग्रन्थों के होने वाले अनुवादों में प्रथम लिखित प्रमाण सन् 148 में, सम्भवतः तारिम बेसिन में कुषाणों के विस्तार के साथ, पार्थियन धर्मप्रचारक अन् शिइ काओ के चीन आगमन के समय का मिलता है। अन् शिइ काओ ने *लोयनगन्द* में पहला मन्दिर स्थापित किया और चीनी भाषा में बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का आयोजन किया और इस प्रकार मध्य एशिया में अनुवाद की लहर उत्पन्न की, जो अनेक शताब्दियों तक चली। इन प्रारम्भिक अनुवादों में अधिकतर हीनयानी ग्रन्थ थे। सर्वप्रथम कुषाण लोकक्षेम (सन् 164-186) ने चीनी भाषा में महायान सूत्रों का अनुवाद प्रारम्भ किया। चीन में जन्मे सीथियन वंश के धर्मरक्षा बौद्ध भिक्षु द्वारा बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवाद की प्रक्रिया चीन के हॉन वंश के विभाजन के बाद शुरू हुई। यह प्रक्रिया पश्चिमी चिन वंश (सन् 216-316) और पूर्वी चिन वंश (सन् 317-419) के दौरान भी चलती रही। कुचा के एक बौद्ध भिक्षु पफो-तु-तेंग (सन् 310) ने अपने दो शिष्यों ताओ-एन (सन् 312-385) और हुई-युआन (सन् 334-416) के साथ अनेक महायान ग्रन्थों का अनुवाद किया या अनुवाद कर्म को प्रोत्साहित किया। उन्होंने न केवल अनूदित ग्रन्थों का संग्रह किया बल्कि उनकी प्रथम सारिणी भी तैयार की और कुचा से कुमारजीव को आमन्त्रित किया। इस प्रकार कुचा के महान बौद्ध अनुवादक कुमारजीव

(सन् 344-413) के आने तक उक्त प्रयासों ने अनुवाद कार्यों के लिए जमीन तैयार कर दी थी। कुमारजीव ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद किया और पूर्ववर्ती चीनी अनुवादों को संशोधित किया। उनके अनेक अनुवाद आज भी प्रयोग में हैं। इस प्रक्रिया को बुद्धभद्र ने आकर और बढ़ावा दिया, जिन्होंने चीन आकर बौद्ध ध्यान पद्धति और विनय का प्रचार किया। राजनीतिक अस्थिरताओं के कारण कुमारजीव के शिष्य बाद में तितर-बितर हो गए जो कि चीन के अन्य भागों में बौद्ध धर्म के प्रसार में सहायक ही हुए। इन प्रारम्भिक बौद्ध अनुवादकों को प्रायः बौद्ध-ताओ के रूप में जाना जाता था। इसका कारण यह था कि चीनी भाषा में बौद्ध धर्म की व्याख्या करने के लिए उचित शब्द न मिलने से होने वाली कठिनाइयों के कारण उन्होंने अपने अनुवादों में ताओ शब्दावली का प्रयोग किया था।

चीन में अनुवाद कार्य ने एक विशेष विधा का दर्जा प्राप्त कर लिया था। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों के चीनी अनुवादों का अत्यन्त विशाल संग्रह उन अनुवादकों की मेहनत और लगन का नतीजा है, जिन्होंने वर्षों तक किसी शब्द-कोश, पारिभाषिक पदावली आदि अनुवाद कार्य में सहायक सामग्री के बिना इतने गूढ़ ग्रन्थों के अनुवाद कार्य को अन्जाम दिया। अनुवाद के लिए वहाँ बाकायदा अनुवाद मण्डलों की स्थापना की गई थी, जिनमें कुछ भारतीय विद्वान् और कुछ चीनी विद्वान् होते थे। यह अनुवाद मण्डल किसी एक विशिष्ट विद्वान के अधीन कार्य करता था और किसी विवाद की स्थिति में उसी विद्वान का निर्णय अन्तिम हुआ करता था। चीन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान अनुवादकों की लम्बी सूची उपलब्ध है। कुछ अनुवादों का विशेष साहित्यिक मूल्य है और उन्हें चीनी साहित्य में मील के पत्थर के रूप मे स्वीकार किया जाता है।

धीरे-धीरे बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवादों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। बौद्धों को अब इस समस्या का सामना करना पड़ा कि कैसे बौद्ध ग्रन्थों की इस विशाल संख्या को पढ़ा जाए और उनकी शिक्षाओं को कैसे व्यवहार में लाया जाए। इसके ही परिणामस्वरूप, बौद्ध धर्म के कई सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय कुछ विशेष ग्रन्थों के अध्ययन एवं पालन पर अपना ध्यान केन्द्रित करने लगा।

यहाँ प्रसिद्ध चीनी यात्रियों फा-ह्यान, युवान्-च्वांग और इत्सिंग का वर्णन करना नितान्त आवश्यक है। इन तीनों को बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक ज्ञान चीन में ही प्राप्त हुआ था। तीनों ही अनूदित रूप में उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थों से असन्तुष्ट होकर वे स्वयं उन ग्रन्थों के मूल रूपों को पढ़ने की इच्छा से भारत की यात्रा को निकले थे। फा-ह्यान की शंका विनय सम्बन्धी कुछ विषयों की थी, इसी प्रकार युवान च्वांग भी अलग-अलग सम्प्रदायों द्वारा अपने-अपने ग्रन्थों को मूल बुद्ध वचन सिद्ध करने की प्रवृति से क्षुब्ध होकर वस्तुस्थिति का पता लगाने भारत आए थे। इत्सिंग भी विनय सम्बन्धी विवादों पर स्पष्टीकरण चाहते थे। ये तीनों महान यात्री अपने-अपने साथ सैकड़ों ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ चीन ले कर गए थे, जिनके अनुवाद उन्होंने स्वयं तथा अनेक समकालीन एवं परवर्ती विद्वानों ने किए।

4.8 अनुवाद की कोरियाई और जापानी बौद्ध परम्परा

प्रारम्भिक ऐतिहासिक साक्ष्य दर्शाते हैं कि कोरिया तीन राज्यों में विभक्त था, उत्तर में कागुर्यो, दक्षिण-पश्चिम में पेकचे और दक्षिण-पूर्व में सिल्ला। परम्परा के अनुसार, एक चीनी भिक्षु ने चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में पहली बार कोगुर्यो से बौद्ध धर्म का परिचय कराया। एक मध्य एशियाई भिक्षु कुछ समय पश्चात् बौद्ध धर्म को पेकचे लेकर आए। छठी व सातवीं शताब्दियों के दौरान, अनेक कोरियाई भिक्षु बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए चीन गए और अपने साथ बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थ लेकर लौटे। सातवीं शताब्दी के अन्त के लगभग तीनों राज्य सिल्ला के नेतृत्व में एकजुट हो गए और तब से बौद्ध धर्म राजसी प्रश्रय में फलता-फूलता रहा। उस विकास ने कोरियाई लोगों के जीवन पर महत्त्वपूर्ण छाप छोड़ी। सम्पूर्ण त्रिपिटक के चीनी अनुवाद को लकड़ी के ब्लाकों पर खुदवाया गया। ऐसे हजारों ब्लाक तेरहवीं शताब्दी में बनाए गए और आज तक कोरिया की राष्ट्रीय धरोहर के रूप में संगृहीत हैं।

छठी शताब्दी के दौरान, पेकचे के राजा ने जापान के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बुद्ध की प्रतिमाएँ और बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ जापानी राजदरबार को भेजीं। प्रारम्भ से ही बौद्ध धर्म की स्थापना में जापानी शासकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इनमें राजकुमार शताकू का विशेष स्थान है। परम्परा कहती है कि

उन्होंने बौद्ध धर्म के नैतिक और सामाजिक मूल्यों के आधार पर देश का पहला 'संविधान' लिखा। अनेक भिक्षुओं को अध्ययन के लिए चीन भेजा गया। भिक्षुओं को ग्रन्थों के अध्ययन के लिए प्रेरित करने के साथ ही साथ उन्होंने भिक्षुओं को धर्मोपदेश भी दिए; बाद में इन ग्रन्थों में से कुछ पर टीकाएँ भी लिखीं। उनकी टीकाएँ जापान में लिखीं गईं प्राथमिक ग्रन्थ कही जाती हैं और अब राष्ट्रीय संग्रहालयों में रखी गई हैं। इसके बाद के नारा काल में बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराई गईं और देश भर में बँटवाई गईं। इसी समय चीनी भिक्षुओं ने यहाँ आना शुरू किया और बौद्ध धर्म के अनेक चीनी सम्प्रदायों का जापान में प्रवेश हुआ। परवर्ती जापानी बौद्ध धर्म पूर्णतः चीनी सम्प्रदायों से प्रभावित रहा है।

4.9 अनुवाद की दक्षिण एशियाई बौद्ध परम्परा

चौथी-पाँचवीं सदी में अनुवाद कार्य बड़ी तेजी से हुआ। यही वह काल है जिसमें पालि के तीन अट्ठकथाकार सक्रिय रूप से इस कार्य में लगे हुए थे। बुद्धदत्त दक्षिण भारत के थे और सिंहली भाषा में उपलब्ध अट्ठकथाओं को पालि भाषा में अनूदित करने हेतु संघ द्वारा श्रीलंका भेजे गए थे। ऐसा साक्ष्य मिलता है कि बुद्धदत्त ने कई अट्ठकथाओं का कार्य प्रारम्भ किया था, लेकिन पूरा करने में असफल रहे। किन्हीं कारणों से अन्त में जब वे श्रीलंका से भारत की ओर जहाज से लौट रहे थे, तो श्रीलंका की तरफ जाने वाली जहाज में उनकी भेंट बुद्धघोस से हुई। उन्होंने अपने कार्य के विषय में उन्हें (बुद्धघोस को) सूचित किया और कहा कि उनकी आयु अब थोड़ी ही शेष है, इसलिए वे अब कार्य पूरा नहीं कर सकेंगे, अतः उस कार्य को बुद्धघोस पूरा करें। सिंहली अट्ठकथाओं को पालि में भाषान्तरित (अनूदित) करने का कार्य बुद्धदत्त की तरह बुद्धघोस ने भी किया और इस प्रकार उन्होंने कई अट्ठकथाएँ तैयार कीं। कुछ साक्ष्यों के अनुसार उल्लेखनीय है कि उन्होंने सिंहल भाषा से पालि में अट्ठकथाओं का केवल अनुवाद किया, पर अन्य स्रोतों के अनुसार कुछ का तो उन्होंने पालि में अनुवाद किया, और कुछ स्वयं लिखीं। *विनयपिटक* की *समन्तपासादिका, दीघनिकाय* की *सुमंगलविलासनी, मज्झिमनिकाय* की *पपञ्चसूदनी* आदि अट्ठकथाएँ प्रत्यनुवाद (बैक अनुवाद) के सटीक उदाहरण हैं।

म्याँमार, थाईलैण्ड, कम्बोडिया और लाओस में भी अनुवाद की बौद्ध परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही है। इन देशों में बौद्ध धर्म और अनुवाद कार्य को प्रचलित करने का श्रेय श्रीलंका को जाता है। स्थानीय परम्परा के अनुसार स्वर्णभूमि क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रसार भगवान बुद्ध के समय में ही तपुस और भल्लिक नामक दो व्यापारियों द्वारा हुआ जो उनसे उनके संघ के निर्माण से पहले ही मार्ग में मिले थे और बुद्ध ने अपने कुछ केश उन्हें दिए, जिन्हें ले जाकर उन्होंने स्थानीय सिन्गुत्तर पहाड़ी पर स्तूप बना कर रखा, जहाँ आज प्रसिद्ध श्वेदगोन स्थित है। *महावंश* के अनुसार बौद्ध धर्म स्वर्णभूमि में अशोक द्वारा भेजे गए दो भिक्षुओं– सोण और उत्तर द्वारा तभी पहुँच चुका था। पुरातात्त्विक साक्ष्यों से साबित होता है कि छठी शताब्दी में संस्कृत बौद्ध धर्म ने श्रीक्षेत्र, प्राचीन प्रोम में जड़ें जमा ली थीं।

थाईलैण्ड में *मिलिन्दपञ्ह* प्रारम्भिक ग्रन्थों में से एक है। जब श्रीलंका में बौद्ध साहित्य की रचना की शुरुआत हुई, उन्हीं दिनों उनमें से अनेक साथ के साथ थाईलैण्ड पहुँच गए। इसी कारण *विनयपिटक* की *समन्तपासादिका*, *दीघनिकाय* की *सुमंगलविलासिनी* तथा *धम्मसंगणी* की *अट्ठसालिनी* जैसी 52 (बावन) अट्ठ*कथाएँ* थाई भिक्षुओं व गृहस्थों के यहाँ प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त *नेत्तिप्पकरण, पेटकोपदेस, विसुद्धिमग्ग आदि* अनेक बौद्ध ग्रन्थ भी प्रचलित हैं।

सुखोथाई काल विदेशों से थाईलैण्ड में बौद्ध साहित्य के आगमन का काल रहा है। राजा रामखमहेन ने दो कार्य साथ-साथ किए, राज्य पर शासन और बौद्ध धर्म का शिक्षण। सुखोथाई के राजा लिथई ने राजमहल के भीतर भिक्षुओं को *त्रिपिटक* के अध्ययन के लिए आमन्त्रित किया था। 'तओ-सिछुल्लक' नामक पुस्तक के कुछ अंश दर्शाते हैं कि कुछ भिक्षु *विनयपिटक* की एक, या दो, या चार, या पाँच पुस्तकों में पारंगत थे, कुछ भिक्षु *सुत्तपिटक* के चालीस, या सौ, या अनेक सुत्तों में प्रवीण थे, कुछ भिक्षु *अभिधम्मपिटक* के दस या अधिक भाणवारों में पारंगत थे।

लन-न में, विदेशों से आने वाले बौद्ध साहित्य से यिन्डा मई और समीपस्थ क्षेत्रों में बौद्ध विद्वान भिक्षुओं को बढ़ावा मिला। उन विद्वानों में से फरा किरिमन्गलजम ने *मंगलत्थदीपनी, वस्सन्तरदीपनी* और अन्य अनेक ग्रन्थों की रचना

की, अन्य विद्वानों ने भी अनेक बौद्ध ग्रन्थों की रचना की। तथापि, सुखोथाई और लन-न में पालि अध्ययन, पाठ्यक्रम अथवा अध्ययन की श्रेणी, परीक्षा इत्यादि के अनुसार व्यवस्थित नहीं थे। बाद में अयुत्थ काल (सन् 1350-1767) में राजा नरयन के काल में पाठ्यक्रम, शिक्षण कार्य व परीक्षा निर्धारित किए गए। उन दिनों परीक्षा का माध्यम मौखिक था। पालि अध्ययन तीन श्रेणियों में विभक्त था–

1. *बरिअन्तरी,* उन छात्रों के लिए जिन्होंने *सुत्तपिटक* का अनुवाद समाप्त कर लिया है।
2. बरिअन्थो, उन छात्रों के लिए जिन्होंने *विनयपिटक* का अनुवाद समाप्त कर लिया है।
3. बरिअन्-एक, उन छात्रों के लिए जिन्होंने *सुत्त, विनय* और *अभिधम्मपिटक* का अनुवाद समाप्त कर लिया है।

कुल मिला कर सम्पूर्ण दक्षिण-एशियाई क्षेत्र (म्याँमार, थाईलैण्ड, लाओस, कम्बोडिया, वियतनाम) के लिए कहा जा सकता है कि वहाँ की भाषाओं, बोलियों, साहित्यों, कलाओं, वास्तुशिल्प इत्यादि पर पालि भाषा का प्रबल और सुस्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, अनुवाद अध्ययन के शिक्षार्थियों के लिए भिन्न-भिन्न विधाओं और भाषाओं का एक दूसरे से सम्बन्ध जानने के लिए यह अति उर्वर खण्ड हो सकता है कि कैसे वहाँ के भिक्षुओं ने स्थानीय और पालि– दोनों भाषाओं में गति प्राप्त की, कैसे स्थानीय निवासियों ने रोजमर्रा के कार्यों के लिए स्थानीय भाषा और धार्मिक कार्यों के लिए पालि भाषा के प्रयोग के साथ सामंजस्य बैठाया...इत्यादि।

4.10 अनुवाद की तिब्बती बौद्ध परम्परा

तिब्बती अनुवाद परम्परा तो इससे भी अधिक समृद्ध और व्यवस्थित रही है। वास्तव में तिब्बती या भोटी भाषा (तिब्बत में इसे बोद्-स्कद् नाम से जाना जाता है) की वर्णमाला, व्याकरण, लिपि इत्यादि सभी कुछ संस्कृत भाषा पर आधारित है। सातवीं शताब्दी में तिब्बत के राजा स्रो-ब्व़न स्गम्-पो (सन् 617-650) ने अपने मन्त्री थोनमी सम्भोट को भारत भेज कर तिब्बत के लिए एक भाषा विकसित करने का आदेश दिया, क्योंकि तब तक तिब्बत में भाषा केवल मौखिक रूप में ही विद्यमान थी। थोनमी सम्भोट ने भारत आ कर कई वर्षों तक संस्कृत भाषा का अध्ययन कर चार स्वर और तीस व्यंजनात्मक लिपि व आठ अध्यायात्मक व्याकरण विकसित किया और अपने साथ अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रन्थ लेकर वापस तिब्बत लौटे, उसके बाद नेपालि पण्डित कुसर के सहयोग से उनका अनुवाद किया। तब से ही वहाँ अनुवाद कार्य की ठोस नींव पड़ गई। तिब्बत के अनुवाद कार्य की प्रगति में सर्वाधिक योगदान राजा खि-स्रोघ् ल्दे-ब्व़न (सन् 742-797) का रहा है। उन्होंने ही भारत से आए आचार्य शान्तरक्षित एवं आचार्य पद्मसम्भव के निर्देशन में प्रथम बौद्ध महाविहार ब्सम्-यस् का निर्माण कराया, जहाँ धर्म-दर्शन अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ अनुवाद का भी केन्द्र स्थापित कराया। उसने स्वयं जगह-जगह भ्रमण कर 108 (एक सौ आठ) प्रतिभाशाली तिब्बती युवकों की खोज की और उन्हें ब्सम्-यस् (सम्ये) महाविहार में शाही सुविधाओं के साथ तिब्बती भाषा एवं संस्कृत भाषा के ज्ञान के साथ अनुवाद कार्यों में दक्ष करवाया। ये बहुभाषाविद् अनुवादकगण लोचावा की उपाधि से विभूषित होते थे। यह लोचावा शब्द संस्कृत शब्द लोकचक्षु का विकसित रूप है। राजा ने आचार्य शान्तरक्षित एवं आचार्य पद्मसम्भव की अध्यक्षता में उक्त तिब्बती महानुवादकों से संस्कृत आदि भाषाओं में विद्यमान अनेक बुद्धवचनों एवं भारतीय आचार्यों द्वारा विरचित बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद कार्य सम्पन्न कराया। इस पुनीत कार्य में संलग्न प्रत्येक महान अनुवादकों को राजा अपने तैंतीस अंगरक्षकों के वेतन के समान आजीविका का संसाधन उपलब्ध कराता था।

तिब्बती अनुवाद के इतिहास में अगला प्रमुख योगदान राजा खि-रल्-प-चन् (सन् 866-901) का रहा है। अनुवाद कार्य में अपने योगदान में यह अपने पूर्ववर्ती राजाओं से किसी भी रूप में कमतर नहीं था। इन्होंने तिब्बत देश में सुप्रतिष्ठित बौद्धविहारों एवं भिक्षुसंघ के संरक्षण तथा संस्कृत आदि भाषाओं में विद्यमान सद्धर्म ग्रन्थों के प्रचलित तिब्बती अनुवाद कार्यों को सम्वर्धित किया। बौद्ध धर्म-दर्शन तथा संस्कृत के अध्यापन एवं अनुवाद कार्यों में तिब्बती लोचावा लोगों के सहयोग के लिए भारत से सुरेन्द्रबोधि, शीलेन्द्रबोधि, दानशील, आदि आचार्यों को आमन्त्रित किया। पुनः एक बार दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजा ल्ह-ब्ल-म ये-शेस्-होद् एवं लोचावा रिन्-छेन् ब्जघ्-पो (सन् 958-1055), जो तिब्बत के इतिहास में अग्रगण्य महान अनुवादकों में गिने जाते हैं, के अथक प्रयासों

से तथा सुविख्यात आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान के सहयोग से अनुवाद कार्य हुए। आज वहाँ का सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य उपलब्ध है, जिसे तिब्बती विद्वानों ने 14वीं शताब्दी से ही संकलित कर मुख्यतः दो भागों में विभक्त कर दिया है– *कग्युर* अर्थात् *बुद्धवचनानुवाद* और *तंग्युर* अर्थात् *शास्त्रवचनानुवाद*। इसमें *कग्युर* तो पूर्णतः भारत में उपलब्ध बुद्धवचन का अनुवाद है, और *तंग्युर* में तिब्बती बौद्ध लेखकों की रचनाएँ भी सम्मिलित हैं। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के तिब्बती अनुवादों में संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों के लिए तिब्बती भाषा में उपलब्ध पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग बड़ी निपुणता से किए गए हैं। प्रख्यात तिब्बती विद्वान और इतिहासकार बु-स्तोन् रिन्-छेन्-ग्रुप् (सन् 1290-1364) के अनुसार संस्कृत, चीनी, सिक्यांग, कश्मीरी, अफगानी, सिंहली, स्वर्णद्वीपीय, कम्बोडियाई, बंगाली, नेपालि, जावाई, आदि भाषाओं से बौद्ध धर्म-दर्शन आदि विषयक ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में हुआ है।

यहाँ चीनी भाषा और तिब्बती भाषा में प्रयोग की गई दो अनुवाद विधियों को जानना आवश्यक है। चीनी भाषा में जहाँ पैराफ्रेजिंग विधि अपनाई गई, वहीं तिब्बती भाषा के अनुवाद में मेटाफ्रेजिंग विधि। यही कारण है कि तिब्बती बौद्ध ग्रन्थों का पालि, संस्कृत इत्यादि में प्रत्यनुवाद (बैक अनुवाद) करना आसान है, जबकि चीनी भाषा से प्रत्यनुवाद करना कठिन है।

4.11 अनुवाद की यूरोपीय बौद्ध परम्परा

अनुवाद की बौद्ध परम्परा का अगला पड़ाव तब प्रारम्भ होता है जब सोलहवीं सदी में यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति ने दस्तक दी। इसके साथ ही यूरोपीय देशों के उपनिवेश अस्तित्व में आने लगे। उसी क्रम में यूरोपीय विद्वानों ने अपने-अपने उपनिवेशों में शासन चलाने के लिए उन-उन उपनिवेशों की भाषाओं, बोलियों, साहित्य और संस्कृति का सहारा लिया। यूरोपीय विद्वानों ने धर्म और संस्कृति के ग्रन्थों का पठन-पाठन शुरू करने के पहले प्राचीन भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक जानते हुए पहले उन पर ध्यान दिया और इस प्रकार अंग्रेजों, फ्रांसीसियों, जर्मनों, रूसियों, पुर्तगालियों, इटेलियनों इत्यादि ने पालि, प्राकृत व संस्कृत जैसी प्राच्य भाषाओं में रुचि दिखाई। इस बात का अनुमान आठ जिल्दों वाले प्रसिद्ध ग्रन्थ *'बिब्लियोग्राफिक बौद्धिक्यू'* और एम. विण्टरनित्ज की पुस्तक *'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर'* के खण्ड-1 और खण्ड-2 से लगाया जा सकता है। अनुवाद कार्य में जिन महान विद्वानों का उल्लेख किया जा सकता है, उनमें ई. बर्नऑफ, फौसबॉल, प्रिंसेप, कर्न, सोमा-डी-कोरस, ओल्डनबर्ग, पुस्सिन, लेवी, स्टेचरबटस्की तथा श्री और श्रीमती रॉयस डेविडस का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए। एशियाई विद्वानों में शरत चन्द्र दास, सतीश चन्द्र विद्याभूषण, बुनियो नैन्जिओ, जे. ताकाकुसु, धर्मानन्द कौशाम्बी, बी. एम. बरुआ, राहुल सांकृत्यायन आदि का नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है।

विलियम जॉन्स संस्कृत का अध्ययन करने वालों में पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने कलकत्ता में अत्यन्त कठिनाई से संस्कृत का अध्ययन किया। पालि साहित्य में छुपे हुए खजाने के मूल्य को समझते हुए सन् 1837 में *महावंश* का सम्पादन और अनुवाद करने वाले प्रथम यूरोपीय जार्ज टर्नर थे। सन् 1855 में *धम्मपद* का लैटिन अनुवाद विनसेण्ट फौसबॉल के सत्प्रयास से सामने आया। यूगेने बर्नऑफ ने सन् 1844 में *दिव्यावदान, कारण्ड-व्यूह* व *वज्रसूची* के लम्बे खण्डों का अनुवाद किया। उनका दूसरा कार्य सन् 1852 में *सद्धर्मपुण्डरीक* का फ्रेंच अनुवाद है और *सुत्तनिपात* का अंग्रेजी अनुवाद सन् 1881 में आया। उनका सबसे विशाल कार्य जातक का संस्करण था जिसे उन्होंने छह खण्डों में सन् 1877 से 1897 के मध्य छापा। हरमन ओल्डनबर्ग ने *विनयपिटक* के *पातिमोक्ख, महावग्ग* और *चुल्लवग्ग* का अंग्रेजी अनुवाद रॉयस डेविडस के सहयोग से सन् 1879-1883 के मध्य *'सैक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट'* से खण्ड 13, 17 और 20 के रूप में छापा। *'दी बुद्धा'* का अंग्रेजी अनुवाद सन् 1882 में छपा जो पूर्णतः पालि स्रोतों पर आधरित यूरोप में छपी पहली पाठ्य पुस्तक थी। उनके अन्य कार्यों में *थेर-थेरी गाथा, दीपवंश* का सन् 1897 में छपा अंग्रेजी अनुवाद था।

पालि जातक के समकक्ष संस्कृत में रचित आर्यशूर की जातकमाला का संस्करण (सन् 1891) और *सद्धर्मपुण्डरीक* का अनुवाद (सन् 1884) एच कर्न ने निकाला। रॉयस डेविडस ने सन् 1879 में *निदानकथा* का अंग्रेजी अनुवाद छापा। उन्होंने सन् 1881 में 'पालि टैक्स्ट सोसायटी' की स्थापना की और सम्पूर्ण जीवन पालि *त्रिपिटक*, अनेक पालि *अट्ठकथाएँ* तथा लगभग दर्जन भर अनुवाद छापे। *मिलिन्दपञ्ह* (सन् 1890-91) और *दीघनिकाय* (सन् 1889, 1910, 1921) आज भी इस प्रकार के ग्रन्थों के अनुवाद के लिए एक नमूने का कार्य करते हैं। श्रीमती रॉयस डेविडस ने

थेरी गाथा (सन् 1909), *थेर गाथा* (सन् 1913), *संयुक्त निकाय* के *सगाथवग्ग* (सन् 1917), *धम्मसंगणी* (1823), *अभिधम्मत्थ-संगहो* (सन् 1910) और *कथा-वत्थु* (सन् 1915) के अंग्रेजी अनुवाद किए और छपवाए। 'पालि टैक्स्ट सोसायटी' ने पश्चिम के कई अनुवादकों को मौके दिए।

4.12 अनुवाद की आधुनिक भारतीय बौद्ध परम्परा

बौद्ध परम्परा के प्रचार-प्रसार में पश्चिमी विद्वानों के उद्यम तो सराहनीय हैं ही, भारतीय विद्वानों की जागरूकता भी गौरतलब है। सन् 1892 में कलकत्ता में बुद्धिस्ट टैक्स्ट सोसायटी की स्थापना हुई। राजेन्द्र लाल मित्र और हर प्रसाद शास्त्री ने विभिन्न नेपालि पुस्तकालयों में बिखरी पड़ी पाण्डुलिपियों का कैटलॉग बनाया। शरत चन्द्र दास ने तिब्बत में उपलब्ध भारतीय विद्वानों के ग्रन्थों को जगजाहिर किया। सतीश चन्द्र विद्याभूषण ने कच्चायन के पालि व्याकरण का अंग्रेजी अनुवाद कर पालि भाषा के पुनरुद्धार का कार्य प्रारम्भ किया। धर्मानन्द कौशाम्बी ने अनेक पालि ग्रन्थों का अनुवाद कर उन्हें बहुसंख्य लोगों तक पहुँचाया। राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत से प्राचीन ग्रन्थों को भारत लाकर उनके संपादन और अनुवाद के कार्य को नई उँचाइयों तक पहुँचाया।

4.13 अनुवाद की आधुनिक बौद्ध परम्परा का समीक्षात्मक विवेचन

बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के आधुनिक इतिहास को तीन चरणों में बाँटा जा सकता है। पहले चरण में भारतीय उपमहाद्वीप में औपनिवेशिक काल के प्रारम्भिक वर्षों को रखा जा सकता है, जब ईसाई धर्म और ईसाई मूल्य औपनिवेशिक मानसिकता के अभिन्न अंग थे। इस दौरान पालि, प्राकृत और तिब्बती बौद्ध ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद प्रायः मिशनरियों द्वारा किए गए, या, यदि मिशनरियों द्वारा नहीं तो, उन विद्वानों द्वारा जो ईसाई धर्म के प्रति प्रतिबद्ध और प्रभावित थे। अतः, ये अनुवाद, अनुवाद की भाषा में और मूल सामग्री की व्याख्या में ईसाईयत के एक उच्च स्तर से रंगे हुए थे। कर्न का *सद्धर्मपुण्डरीक* सूत्र का प्रारम्भिक अनुवाद इस काल के सबसे अच्छे या सबसे खराब अनुवादों में से एक का उदाहरण है। इसमें वाक्यांश 'मिस्र के माँस बर्तन', जो सीधे बाईबल से लिया गया है, का प्रयोग सम्भवतः कामुक भ्रष्टाचार के विचार को इंगित करने के लिए किया गया था। अनुवाद में जो और अधिक घातक है वह है निर्वाण के लिए मृत्यु शब्द के प्रयोग पर बल देना। यह न केवल एक गलत अनुवाद है, बल्कि बौद्ध धर्म के सर्वोच्च लक्ष्य का अचेतन मूल्यांकन या अवमूल्यन करता है।

बौद्ध ग्रन्थों के एक प्रारम्भिक अनुवादक पर बाईबल के मूल्यों के अभिभूत प्रभाव का एक अन्य उदाहरण पालि स्रोतों से लिए गए श्रीमती रॉयस डेविस का अनुवाद है। सभी साक्ष्यों के विपरीत होने के बावजूद, उन्हें बुद्ध की शिक्षा में आत्मा के अस्तित्व की अभिपुष्टि मिली।

वाडेल भी इसी समूह में वर्गीकृत किए जा सकते हैं यद्यपि, उन्होंने वास्तविक अनुवाद की तरह अधिक अनुवाद नहीं किए हैं। उनका शब्द 'लामावाद' बौद्ध धर्म के प्रति ईसाई पूर्वाग्रह से भरा है। जब वे तिब्बत में थे, वाडेल बौद्ध धर्म के प्रति काफी अनुकूल माने जाते रहे हैं, किन्तु इंग्लैण्ड में अपनी पुस्तक के लेखन के समय, गैर ईसाईयों, विशेषकर गैर-बाईबल धर्मों के प्रति, प्रचलित ईसाई रवैयों ने उनके विचारों को बदल दिया और उन्होंने ऐसी पुस्तक की रचना की जो उस समय प्रचलित दृष्टिकोण की पुष्टि करती थी।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के दूसरे चरण में, जो मोटे तौर पर पिछली शताब्दी के पूर्वार्ध तक छाया हुआ था, ईसाई प्रभाव उतना हावी नहीं था। इस अवधि के दौरान, यद्यपि एशिया में कई बौद्ध देशों का औपनिवेशिक, राजनीतिक और आर्थिक वर्चस्व जारी था, पश्चिमी अनुवादकों पर ईसाई धर्म और ईसाई मूल्यों का प्रभाव पृष्ठभूमि में फीका पड़ गया था। सम्भवतः इस विकास को पश्चिमी बुद्धिजीवियों के मध्य ईसाई धर्म की साख में गिरावट और विज्ञान की उन्नति तथा मार्क्सवाद के उदय के द्वारा आंशिक रूप से समझा जा सकता है। इस चरण में पारम्परिक पश्चिमी दर्शन की श्रेणियाँ और प्रमुख अवधारणाएँ प्रभावशाली बन गई थीं तथा अधिकतर अनुवादक कैण्ट से बुरी तरह प्रभावित थे। तथापि, बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद और व्याख्या में कैण्ट की श्रेणियों और अवधारणाओं के प्रवेश ने इन ग्रन्थों के वास्तविक विषय और उद्देश्य को प्रकट करने में कोई सहायता नहीं की।

उदाहरण के लिए एक अनुवादक स्तेचरबत्स्की का नाम लिया जा सकता है जिसने इस काल के दौरान बौद्ध सामग्रियों पर बड़े पैमाने पर कार्य किया और जिनके अनुवाद कैण्ट के विचारों से बुरी तरह प्रभावित थे। 'वस्तु स्वयं अपने आप में' वाक्यांश का बार-बार प्रयोग उनके यहाँ सीधे कैण्ट के तत्त्वमीमांसा से लिया गया है। उन्होंने इस वाक्यांश का प्रयोग, निरपेक्ष या परम तत्त्व के उल्लेख के लिए किया है। तथापि, यह परमार्थ या तथता की बौद्ध अवधारणाओं को समझने के लिए सहायक वाक्यांश है, संदिग्ध है। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कैण्ट भी *मध्यान्तविभंग* जैसे योगाचार ग्रन्थों के अपने अनुवादों में एक अन्य पश्चिमी दार्शनिक, बर्कले, जो केवल चित्त के अस्तित्व का प्रस्ताव रखने वाले पश्चिमी दार्शनिकों में से प्रथम थे, से प्रभावित थे। यह सम्बन्ध सहायक नहीं था, क्योंकि बर्कले एक पादरी थे, जो यह सिद्ध करना चाहते थे कि 'ईश्वर के मन में' को छोड़कर किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता है, और इसलिए ईश्वर को जगत के सर्वोच्च वास्तुकार के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। अधिकतर समकालीन विद्वान अब स्वीकार करते हैं कि बौद्ध मनोवैज्ञानिक दार्शनिक, विशेषकर असंग और वसुबन्धु, का पारम्परिक पश्चिमी आदर्शवाद से अत्यन्त भिन्न दृष्टिकोण है।

पश्चिमी अनुवादक के एक अन्य उदाहरण कोन्ज़ हैं, जिन्होंने ढेर सारे अति उपयोगी कार्य करने के बावजूद, बौद्ध ग्रन्थों के अपने अनुवाद और व्याख्याओं में कैण्ट के विचारों को भी सम्मान दिया। परमार्थ के अनुवाद के लिए 'परम' शब्द के प्रयोग पर बल देना बौद्ध विचार पर कैण्ट की शब्दावली और अवधरणा को प्रत्यक्ष थोपना है। बौद्ध ग्रन्थों के इस चरण के अंग्रेजी अनुवादों पर ईसाई धर्म के प्रभाव के पतन के विषय में पहले दिए गए बिन्दु की तर्ज़ पर, यह इंगित किया जा सकता है कि स्तेचरबत्स्की, यद्यपि एक रूसी थे, उनकी शिक्षा जर्मनी में हुई थी; और इस निश्चय पर पहुँचा जा सकता है कि वे ईसाई मूल्यों के परित्याग और उन्हें कैण्ट और मार्क्स से अदल-बदल के लिए ढाले गए थे। कोन्ज़ भी इसी काल से सम्बन्धित थे।

संस्कृत और तिब्बती स्रोतों से अंग्रेजी में बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के तीसरे चरण को पश्चिमी बौद्धिक और दार्शनिक परम्परा की और अधिक आदर्श और वैचारिक योजनाओं के प्रारम्भ से चिह्नित किया जा सकता है। यह चरण मोटे तौर पर बीसवीं शताब्दी के मध्य से वर्तमान तक माना जाता है, जैसा कि कुछ पश्चिमी विद्वानों के अनुवादों से स्पष्ट है। इनमें कैण्ट और मार्क्स, और साथ ही साथ बर्कले को, बड़े पैमाने पर छोड़ दिया गया था। नए फैशन में बौद्ध सामग्रियों के अनुवाद और व्याख्या के लिए प्रयोग की जाने वाली वैचारिक योजनाओं के लिए पश्चिमी मनोविज्ञान, जैसा कि मुख्य रूप से फ्रॉयड और युंग द्वारा सिखाया गया था, की ओर देखा जाने लगा। अंग्रेजी में बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद कार्य में सहायता के लिए भाषाई सापेक्षवाद की अवधारणाओं को, विशेष कर विट्टगेन्स्तेन द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओं को, अपनाने की एक नई प्रवृति भी थी। कई ऐसे आधुनिक अनुवादक हैं, जिन्होंने बौद्ध ग्रन्थों के अपने अनुवादों में, आधुनिक मनोविज्ञान और भाषाई सापेक्षवाद से ली गई अवधारणाओं और पदों का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया है। अंग्रेजी में बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के इस नए प्रभाव के सबसे स्पष्ट उदाहरण गुऐन्थर के कार्य हैं, परन्तु ऐसे और अनेक कार्य हैं, जो इसी श्रेणी में आते हैं।

इन तीनों चरणों में जो बात आम है, वह है बौद्ध सामग्री पर पश्चिमी अवधारणात्मक योजनाओं को थोपना। दूसरे शब्दों में, भले ही वह ईसाई धर्म के मूल्य थे या पारम्परिक पश्चिमी दर्शन के या फिर पश्चिमी बौद्धिक हलकों के आधुनिक आन्दोलनों के, सभी बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद में विचारों की पश्चिमी योजना के एक विशेषतया प्रचलित प्रयोग द्वारा चिह्नित थे। कहना गलत न होगा कि इन तीनो कालों में कार्य करने वाले सभी अनुवादकों ने एक रंग या अन्य रंगों के कुछ पश्चिमी चश्मों के माध्यम से बौद्ध ग्रन्थों को देखा था। परिणामस्वरूप सम्भवतः कहीं मूल बौद्ध सन्देश में कुछ विकृति भी दिखे।

समस्या केवल पश्चिमी नहीं है। इसी तरह की समस्या तब पैदा हुई जब बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी में अनुवाद किया गया था। वहाँ ताओवादी, और उससे कुछ कम हद तक कन्फयूशियस अवधारणाओं ने बौद्ध सामग्रियों के अनुवाद और व्याख्या को प्रभावित किया, और कुछ मामलों में तो गम्भीरता से अर्थ को विकृत किया। अपने विशिष्ट सांस्कृतिक व बौद्धिक चश्मे के माध्यम से बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ने और अनुवाद करने में समस्या तो उठनी ही है, खास कर तब तो और, जब बौद्ध ग्रन्थ एवं तकनीकें एक ऐसी सभ्यता के सम्पर्क में आएगी, जिनके पास स्वयं अपनी पर्याप्त विकसित व परिभाषित बौद्धिक, धार्मिक और दार्शनिक सभ्यता होती है। सम्भवतः संस्कृत से बौद्ध ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद की उल्लेखनीय सटीकता के पीछे यह तथ्य रहा हो कि आठवीं और नौवीं शताब्दी में

तिब्बत के पास शायद ही स्वयं अपनी कोई पर्याप्त विकसित व परिभाषित बौद्धिक परम्परा थी। कहा जा सकता है कि बौद्ध ग्रन्थों में सन्निहित बौद्ध अवधारणाएँ और मूल्यों का परिचय प्रायः बौद्धिक अभाव से हुआ था। इसे और अधिक सकारात्मक रूप से कहने के लिए, तिब्बती अनुवादक स्वयं अपने चश्मों के माध्यम से बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ने, अनुवाद करने और व्याख्या करने में सक्षम रहे, क्योंकि वे तब तक स्वयं अपनी बौद्धिक पूर्व-अवधारणाओं से रंग नहीं पाए थे।

स्वदेशी परम्परा से सम्बन्धित विद्वानों के साथ मिलकर प्रामाणिक बौद्ध आवाज के साथ बौद्ध ग्रन्थों को अंग्रेजी में बोलने की प्रवृत्ति पश्चिमी अनुवादकों में उभरी। कभी-कभी इस तरह के प्रयास औसत अंग्रेजी पाठकों के लिए होते हैं जो मूलभाषा से परिचित नहीं हैं, ऐसे क्षण में शाब्दिक अंग्रेजी अनुवाद असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य बन जाते हैं। तथापि यह एक सकारात्मक विकास है, क्योंकि तुलनात्मक रूप से कठिन अर्थग्रहण गलत अर्थग्रहण की तुलना में बेहतर है। निश्चित रूप से ईसाई धर्म या कैण्टवाद या यहाँ तक कि फ्रॉयडवाद, युंगेईन या विट्टगेन्स्तेनिईन अवधारणाओं और शब्दों से भरे बौद्ध ग्रन्थों के अनुवादों को समझने के प्रयास से उत्पन्न भ्रमकारक स्थिति इस नए दृष्टिकोण से कम होती है। वह लक्ष्य जिसके लिए हम सभी को प्रयास करना चाहिए, निस्सन्देह अनुवाद ऐसा हो जिसमें वास्तविक बौद्ध आवाज के साथ बात हो, ऐसी भाषा और शैली में प्रस्तुत हो जो औसत शिक्षित पाठक के लिए सुबोध हो। सम्भवतः यह एक लक्ष्य है जो अंग्रेजी में बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के नवीनतम दौर में अर्जित किया जा सके, जिसे चौथा चरण कहा जा सकता है, और उसका शुभारम्भ कुछ नवीनतम अनुवादों में देखा जा सकता है, जो साहित्यिक और मौखिक निष्पक्षता की नई भावना के साथ और स्वदेशी तिब्बती बौद्ध परम्परा के प्रति सम्मान के साथ किए गए हैं।

4.14 सारांश

ईसा पूर्व छठी-पाँचवी शताब्दियों में लोगों के समक्ष अनुवाद और उसके भाषा-स्वरूप की विकराल समस्या रही होगी। *त्रिपिटक* में संगृहीत गौतम बुद्ध के वचन से संकेत मिलता है कि एक स्थान से दूसरे स्थान गए भिक्षुओं ने बुद्ध-वचन के प्रचार में अनुवाद का सहारा लिया। तथ्य है कि प्राचीन गान्धार, अफगानिस्तान आदि से ले कर सुदूर दक्षिण के कर्नाटक क्षेत्र तक चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य के अंग थे, जिसमें अनेक बोलियाँ व भाषाएँ बोली जाती थीं, इन पर शासकीय व्यवस्था कायम रखना अनुवादकों की सहायता से ही सम्भव हुआ होगा। जैन स्रोतों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के अन्तिम काल में जैन मुनि (संन्यासी) बन गए थे और दक्षिण भारत के कर्नाटक क्षेत्र में रहने लगे थे। यहाँ भी अनुमान का सहारा लेना पड़ता है कि उत्तर भारतीय चन्द्रगुप्त मौर्य दक्षिण भारत में अनुवाद या दुभाषियों के सहारे ही अपना जीवनयापन करते रहे होंगे।

सम्राट अशोक का साम्राज्य भी बहुत विस्तृत था। बौद्ध धर्म के प्रति उनके झुकाव के कारण अनुवाद कार्य में अत्यधिक विकास हुआ। उनके शासन काल में बौद्धों की तीसरी संगीति उनकी राजधानी पाटलिपुत्र में हुई, जिसमें एक हजार प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। उस संगीति में जो चर्चाएँ और विवेचन हुए, बौद्ध स्रोत के अनुसार वे पालि भाषा में हुए थे पर अनुमान है कि पालि के अलावा अन्य भाषाओं का भी सहारा लिया गया था, और इस कार्य में अनेक अनुवादक लगाए गए थे। भदन्त महादेव जो अशोक के समकालीन थे और संगीति में सम्मिलित नहीं हुए थे, उनके माध्यम से जिन स्रोतों का पता लगता है वे पालि के अलावा अन्य रहे होंगे। उनका स्रोत सम्भवतः संस्कृत था। इसी संगीति में विभिन्न देशों में धार्मिक प्रचारकों को भेजने का निर्णय भी लिया गया था। बौद्ध साहित्यिक स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि ऐसे प्रचारक यवनों, गान्धार, कश्मीर और उत्तर में हिमालयी क्षेत्रों में; भारत के पश्चिमी भाग, जैसे अपरान्तक; दक्षिणी भाग, जैसे वनवासी और मैसूर; तथा सुदूर दक्षिण के देश, जैसे श्रीलंका और सुवर्ण-भूमि तक भेजे गए थे। यह सूचना अशोक के तेरहवें शिलालेख से और निश्चित हो जाती है, जहाँ यह कहा गया है कि उन्होंने न केवल अपने साम्राज्य में या सीमावर्ती लोगों में बल्कि दूर-दराज के देशों— सिरिया के राजा एण्टीओकस द्वितीय तथा इससे भी आगे के चार अन्य राजाओं के राज्यों अर्थात् इजिप्ट के टोलेमी, मैकेडोनिया के एन्टीगोनोस, एपिरस के अलेक्जेण्डर और उत्तरी अफ्रीका में सिरेनिआ के मगस तक धर्मप्रचार का सफल प्रयास किया था। इन सारे प्रयासों में अनुवाद की बड़ी अहम भूमिका रही है। इस इकाई में बौद्ध साहित्य के इन्हीं प्रसंगों पर चर्चा की गई है।

4.15 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. अनुवाद की बौद्ध परम्परा के प्रारम्भिक स्वरूप की जानकारी देते हुए बौद्ध धर्म के प्रसार में अनुवाद के योगदान की समीक्षा कीजिए।
2. अनुवाद की बौद्ध परम्परा का ग्रीक परम्परा से सम्बन्ध तथा ग्रीक और कुषाण राजाओं के योगदान का विवेचन कीजिए।
3. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :

   अनुवाद की श्रीलंकाई बौद्ध परम्परा

   अनुवाद की चीनी परम्परा

   अनुवाद की कोरियाई और जापानी बौद्ध परम्परा

   अनुवाद की दक्षिण एशियाई बौद्ध परम्परा

   अनुवाद की तिब्बती बौद्ध परम्परा

   अनुवाद की यूरोपीय बौद्ध परम्परा
4. अनुवाद की आधुनिक आधुनिक बौद्ध परम्परा का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।

4.16 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- नगेन्द्र, (सं.), *अनुवाद विज्ञान,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय।
- तिवारी, भोलानाथ, *अनुवाद विज्ञान,* दिल्ली, शब्दकार।
- पालीवाल, रीतारानी, *अनुवाद की सामाजिक भूमिका,* दिल्ली, सचिन प्रकाशन।
- वधान, अमर सिंह, *अनुवाद और संस्कृति,* अहमदाबाद, त्रिवार्ण प्रकाशन।
- सिंहल, ओमप्रकाश, *अनुवाद से संवाद,* अहमदाबाद, अवनी प्रकाशन।
- J.C. Catford, *Linguistic Theory of Translation.*
- George Steiner, *After Babel: Aspects of Language & Translation*, OUP, New York & London, 1975.
- Peter Newmark, *Approaches to Translation,* 1981.
- Sujit Mukherjee, *Translation as Discovery*, Orient Longman, Hyderabad, 1994.
- Tejswini Niranjana, *Sitting Translation*, Orient Longman, Hyderabad.
- R. Raghunath Rao, *The Art of Translation,* Bhartiya Anuvad Parishad, Delhi.
- Susan Bassnett & Ande Lefvere, *Translation/History/Culture,* Publishers, London, 1990.
- Susan Bassnett, *Translation Studies*, Routledge, London & New York, 1988.
- Anuradha Dinwaney & Carol Maier, (Ed.), *Between Languages & Culture(Translation And Cross.Culture Texts)*, OUP, Delhi, 1996.
- Spivak, Gayatri Chakraborty, *The Politics of Translation,* Routledge, London & New York, 1992/2000.
- Hardwick, Lorna, and St. Jerome, *Translating Words, Translating Culture*, Pub. Co. 2000.
- Moore, N. Cornelia and Lower, Lucy, *Translation East and West: A Cross.Cultural Approach*, Uni. of Hawaii and East-West Centre.